विश्वंभरा
सी० नारायण रेड्डी

विश्वंभरा
सी० नारायण रेड्डी

विश्वंभरा

प्रकाशक :
भारतीय भाषा परिषद
३६-ए, शेक्सपीयर सरणी,
कलकत्ता-७०००१७

वितरक :

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग इलाहाबाद-१

प्रथम संस्करण : १९८४

मूल्य : ३० ००

VISHWAMBHARA

Published by :
BHARATIYA BHASHA PARISHAD
36 A, Shakespeare Sarani,
Calcutta-700017.

Distributor :
LOKBHARTI PRAKASHAN
15-A, Mahatma Gandhi Marg,
Allahabad-1

First Edition 1984

Price : 30.00

मुद्रक :
लोकभारती प्रेस,
१८, महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद-१

अनुवादक की ओर से

महाकवि कुमारन आशान पुरस्कार (केरल), भीलवाडा पुरस्कार (कलकत्ता) और सोवियतलैंड नेहरू पुरस्कार—इन तीन स्पृहणीय पुरस्कारो से सम्मानित डा० सी० नारायण रेड्डी जी के समग्र काव्य[1] 'विश्वभरा' का हिन्दी अनुवाद करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। इसे मैं अपने लिए गौरव की बात मानता हूँ। इस अनुवाद कार्य के पूर्व मैं तेलुगु की कतिपय कविताओ के हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कर चुका हूँ। किन्तु एक समग्र काव्य के, और वह भी प्रतीक प्रधान काव्य के, अनुवाद के इस प्रयास मे मुझे कई कठिनाइयो का सामना करना पडा। कुशल चित्रकार के समान समर्थ कवि ने अनेकानेक शब्द-चित्र प्रस्तुत किए हैं और तेलुगु भाषा की शब्द-शक्ति के द्वारा अनेक विशिष्ट प्रयोग किए हैं। डा० रेड्डी जी का तेलुगु भाषा पर अद्वितीय अधिकार है। भाषा तो उनके भावो के अनुरूप, उनकी लेखनी से निसृत होकर, काव्य के रूप मे ढल जाती है।

तेलुगु भाषा मे क्रियापदो के प्रयोग की बहुलता है। तेलुगु का अपना अनुप्रास-विधान है। आन्ध्र की संस्कृति को अभिव्यक्त करने वाले कुछ रूढ शब्द है। उसमे यह काव्य है, एक प्रयोगशील कवि की प्रतीकात्मक रचना। सो मेरा उत्तरदायित्व और बढ गया। स्रोत भाषा के काव्य के भावपक्ष तथा शैली-पक्ष के कवि-कौशल को, जहाँ तक हो सके, लक्ष्य भाषा हिन्दी मे लाने का प्रयास किया है।

इस प्रकार के चित्रमय भाषा मे रचित प्रतीक प्रधान काव्य को हिन्दी भाषा मे पुन· सर्जित करने के मेरे प्रयास मे सहृदय बन्धुवर डा० इरिवेंटि कृष्णमूर्ति (रीडर, तेलुगु विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय) ने जो सहयोग प्रदान किया,

---

१. डा० रेड्डी जी ने अपने काव्य को खड-काव्य या महाकाव्य न कहकर, 'समग्र काव्य' कहा है।

उसे भुलाया नही जा सकता। यो कहूँ तो उचित होगा कि यह अनुवाद जितना मेरा है, उतना डा० कृष्णमूर्ति का है।

इस अनुवाद के प्रथम श्रोताओ के रूप में मेरे सहयोगी बन्धु डा० विष्णु-स्वरूप (रीडर, हिन्दी विभाग, उ० वि०), श्री गिरिजाशकर शर्मा 'गिरीश' (प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, उ० वि०) तथा अभिन्न मित्र डा० एन० पी० कुट्टन पिल्लै ने कई उपयोगी सुझाव दिए हैं। इनके प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ।

डा० प्रभाकर माचवे (निदेशक, भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता) हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक, समालोचक एवं काव्यमर्मज्ञ है। डा० माचवे जी ने इस अनुवाद को प्रकाशित करने का भार स्वीकार कर मुझे प्रोत्साहित किया है। मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

यदि इस अनुवाद द्वारा तेलुगु के लब्धप्रतिष्ठ कवि डा० सी० नारायण रेड्डी के काव्य सृजन की प्रतिभा से हिन्दी के रसज्ञ पाठको को परिचित करा सका, तो मैं अपने प्रयास को सार्थक समझूंगा।

डा० भीमसेन 'निर्मल'
रीडर, हिन्दी विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय

गान्धी नगर,
हैदराबाद, ५०० ३८०

प्रयोगशील कवि

डा० सी० नारायण रेड्डी

डा० सी० नारायण रेड्डी तेलुगु के लब्धप्रतिष्ठ कवि, गीतकार एव समालोचक हैं। मुक्तक काव्य, खड काव्य, समग्र काव्य, गेय नाटिकाएँ, गद्य-नाटिकाएँ, साहित्यिक निवंध, शोधप्रधान लेख, यात्रा-संस्मरण, अनुवाद, सिने-गीत —तेलुगु साहित्य की प्रत्येक विधा को डा० सी० नारायण रेड्डी ने अपने अमृतस्पर्श से प्रभापूर्ण वना दिया है। मात्रिक गेय छन्द को अपनाकर, उसे परिपुष्ट वनाकर, उसमे काव्य लिखने का श्रेय सी० नारायण रेड्डी को प्राप्त है। सन् १९५१-५२ मे रचना के क्षेत्र मे प्रवेश कर, डा० रेड्डी ने रचना-कार्य को एक तपस्या, एक साधना मान लिया है। अद्वितीय संयम और दीक्षा के साथ अनवरत रचनाएँ करते हुए, रेड्डी जी ने तेलुगु साहित्य के क्षेत्र मे अपने लिए विशिष्ट स्थान वना लिया है।

सहज प्रतिभा-सपन्न रेड्डीजी ने हाई स्कूल की कक्षाओ मे पढ़ते समय से ही तुकवंदी करना शुरू किया था। उसका पहला काव्य-सकलन 'फूलो के गीत' (सन् १९५२) जवकि वे मात्र वीस वर्ष के थे, प्रकाशित हुआ। उसके वाद कवि और पडितो की सगति के प्रभाव से निरतर की काव्य-साधना मे लग गए और आज तक उसकी ४० से अधिक काव्यकृतियाँ प्रकाशित हुईं। सन् १९६८ से तो प्रति वर्ष एक काव्य-सकलन नियमित रूप से प्रकाशित होता आ रहा है। मुक्तक काव्यो तथा गेय रूपको के अतिरिक्त रेड्डी जी का शोधप्रवध 'आधुनिक आन्ध्र कविता—परपरा और प्रयोग' विद्वत् समाज मे वहुप्रशसित ग्रंथ है। मीरा और सरोजिनी नायुडू के गीतो के रेड्डी जी के अनुवाद पर्याप्त लोकप्रिय हुए हैं। रेड्डी जी ने सिनेमा के लिए लगभग ३००० गीत लिखे है। इनके कतिपय सिने गीतो का संकलन 'दिन मे ही खिली चाँदनी' के नाम से प्रकाशित हुआ है। १९८१ मे प्रकाशित 'विश्वभरा' तो सी० नारायण रेड्डी की काव्य-प्रतिभा एव चिंतन की

पराकाष्ठा का मूर्तिमान रूप है। 'मंथन' (१९७८) नामक काव्य संकलन के प्रकाशन के पश्चात् मानवीय प्रवृत्तियो के क्रमिक विकास के आधार पर मानव के इतिहास को काव्य रूप देने के लिए वे गंभीरता से विचार करते रहे हैं। वैसे तो मानवीय प्रवृत्तियो का चित्रण एव उनका मानवीकरण रेड्डी जी के काव्यो मे यत्र-तत्र दिखाई पडते हैं। मंथन, मृत्युमुख से, भूमिका आदि काव्य संकलनो में अभिव्यक्त भावो का परिष्कृत रूप ही 'विश्वभरा' है।

रेड्डी जी की प्रारभिक कविताओ मे वैविध्य है। कही छायावादी भाव-धारा है, तो कही प्रगतिशील। कहीं वैयक्तिक प्रणय के भाव हैं, तो कही विश्व-मानव प्रेम के। कही प्राचीन ऐतिहासिक परंपराबद्ध दृष्टिकोण है, तो कही समकालीन सामाजिक गतिविधियो के प्रति आकर्षण। कही राष्ट्रीयता, अत. राष्ट्रीयता के भाव हैं तो कही प्रातीयता के भाव। यह वैविध्य डा० रेड्डी जी को तेलुगु के अन्य कवियो से अलग एक विशिष्ट स्थान का अधिकारी बनाता है।

कवि होने के साथ-साथ रेड्डी जी सधे हुए समालोचक भी हैं। सर्जनात्मक प्रतिभा के साथ रेड्डी जी की अनुसृजनात्मक[1] (अनुवाद) प्रतिभा भी अनुपम है। सवाद-कौशल के साथ भाषण कुशलता से रेड्डी जी श्रोताओ को मुग्ध-कर देते हैं। यो कहे तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि रेड्डी जी की यही बहुमुखी प्रतिभा उनकी यशस्विता का मूल कारण है।

डा० सी० नारायण रेड्डी का जन्म १९३१ मे आन्ध्र प्रदेश के करीम-नगर के हनुमाजी पेट नामक गाँव मे, मध्य वर्ग के किसान परिवार मे हुआ था। अपने ही गाँव मे प्राथमिक शिक्षा, सिरिसिल्ला (तालूका केंद्र) मे माध्यमिक शिक्षा और करीमनगर में हाई स्कूल की शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् हैदराबाद नगर पहुँचकर, उस्मानिया विश्वविद्यालय की इंटर, बी० ए० और एम० ए० (तेलुगु) की परीक्षाएँ पासकर, वहीं १९५५ मे तेलुगु के प्राध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। १९६२ में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। १९६३ मे रीडर और १९७६ मे प्रोफेसर बने। १९८१ में आन्ध्रप्रदेश के राजभाषा आयोग के अध्यक्ष बनकर, राज्य में तेलुगु भाषा को प्रशासनिक क्षेत्र मे समुचित स्थान दिलाने के लिए सराहनीय प्रयास कर रहे हैं। कतिपय शासकीय और स्वैच्छिक समितियो के सदस्य के पद पर रहकर, रेड्डी जी भाषा और साहित्य के विकास की दिशा मे सक्रिय सेवाएँ कर रहे हैं।

---

१. डा० रेड्डी जी अनुवाद को पुनः सृष्टि या अनुसर्जना कहना पसंद करते हैं।

रेड्डी जी को अपनी रचनाओ पर कई पुरस्कार प्राप्त हुए हैं। 'ऋतुचक्र' पर १९६५ मे आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिला तो १९७४ मे केन्द्र साहित्य अकादमी का पुरस्कार 'मंटलू-मानवुडू' (आग और इन्सान) के लिए। १९८२ मे 'विश्वंभरा' काव्य पर महाकवि कुमारन आशान, भीलवाडा एव सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार प्राप्त हुए। एक वर्ष मे, एक ही काव्य पर तीन पुरस्कारो का उदाहरण विरल ही है। डा० रेड्डी जी को १९७६ मे मेरठ विश्वविद्यालय ने मानद डी० लिट् की उपाधि से और १९७८ मे आन्ध्र विश्व-विद्यालय ने 'कलाप्रपूर्ण' (मानद डाक्टरेट) की उपाधि से सम्मानित किया। १९७७ मे भारत सरकार ने 'पद्मश्री' की उपाधि से समलकृत किया। इनके अतिरिक्त कई साहित्यिक सस्थाओं ने रेड्डी जी को सम्मानित एव पुरस्कृत किया। तेलुगु साहित्य के प्रतिनिधि के रूप मे रेड्डी जी मलेशिया, रूस, अम-रीका, कनाडा, इग्लैंड, फ्रास आदि की यात्रा कर चुके हैं। जहाँ-जहाँ गए, वहाँ अपने भाषणो से श्रोताओ को मुग्ध कर दिया।

जीवन के नित्य सत्यो को काव्यमय भाषा मे सरसता के साथ अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य ने रेड्डी जी की कविताओ को अत्यत लोकप्रिय बनाया है। यति-प्रास[1], अनुप्रास, अन्त्यानुप्रास आदि रेड्डी जी की कविता मे अनायास रूप से आ जाते है जिससे कविता सहज प्रवाह से युक्त होकर, पाठक को मुग्ध कर देती है। 'कविता को अपनी मातृभाषा' मानने वाले रेड्डी जी सुमधुर कठ से अपनी कविताओ को निराले ढग से सुनाते है तो श्रोता हर्षोत्फुल्ल हो जाते हैं। शब्दो के विनूतन प्रयोग के लिए रेड्डी जी प्रसिद्ध हैं। 'कहने' के लिए 'गले की गाँठ खोलना', 'अधिकारी' के लिए 'कुर्सियो से चिपकी चमडे की पुतलियाँ', 'आजकल के साधारण मानव' के लिए 'किराए के मकान को ही वृन्दावन मानने वाला वनमाली'—इस प्रकार वर्ण्य विषय को विनूतन शब्द चित्रो मे अभिव्यक्त करते है। एक स्थान पर भाषा की परिभाषा देते हुए रेड्डी जी कहते हैं कि 'भाषा समस्त विश्व को कमरे मे समा देने वाला वेंटिलेटर है अथवा हजार फन उठा-कर नर्तन करने वाला इन्स्पिरेशन है। भाषा ही मेरे लिए मधुर वरदान है, भाषा ही मेरा बनाया जीवन-गोपुर है।' साधारण बोलचाल की भाषा के शब्दो के प्रयोग मे और उनके सम्मिश्रण मे रेड्डी जी की प्रतिभा अद्वितीय है। शब्द क्या है ? रेड्डी जी के ही शब्दो मे 'अर्थ को दूध पिलाने वाले थन हैं।'

नारायण रेड्डी जी की कविताओ मे प्रारंभ से ही आशावाद के दर्शन होते

---

१. प्रत्येक चरण के द्वितीयाक्षर के व्यजन-साम्य को 'यति-प्रास' कहते हैं।

हैं। हालाहल की ज्वालाओ को अमृत-कलिकाओ मे परिवर्तित करने तक अपने अन्तर-मथन को जारी रखने का प्रण कर, यह आशा प्रकट करते हैं कि जिस भूमि पर रक्त छिडका था, वही इतर की बौछार होकर रहेगी। विश्व मानवता पर विश्वास रखने वाला यह कवि 'अक्षरो के गवाक्षो' मे कहता है कि जब तक चिंतन की चेतना प्रज्वलित बनी रहेगी, तब तक जीवन के लिए ऊषा ही है, साय-संध्या नही। वर्तमान सामाजिक समस्याओं मे ऊभचूभ होने वाले मानव के लिए रेड्डी जी अपनी कविताओ मे इंद्रधनुष के रंगीन चित्र प्रस्तुत करते हैं। वर्तमान अत्याचारों, अन्यायो एव आसुर प्रवृत्तियो के कारण मानव के मस्तक मे, मस्तिष्क मे जो शोले उभर पडते है, उनमे सब कुछ स्वाहा हो जाता है किन्तु चिरजीव मानव स्वच्छतर रूप से निखर पडता है। इस आशावादी कवि ने अपनी कविताओ में क्रान्ति का उद्‌बोधन भी किया है। वे कहते हैं कि मानव की उंगलियाँ चाबुक के समान, चरण किरण की भाँति, चितवन दावाग्नियो की नाईं, और विचार शतघ्नियो (तोपो) के समान बन जावे और अनुक्षण जागरण और अहरह सघर्षण होता रहे तभी मानव विश्वशान्ति के अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा।

'मथन' (मथन) नामक काव्य सकलन के चार खंडो—मनन, ज्वलन, उद्‌गमन, उन्मीलन—मे कवि ने प्रतीकात्मक रचना-विधान को प्रधानता दी है। मानव-मन की चित्र-विचित्र गतियो को अक्षर रूप दिया है। 'उदयं ना हृदय' (उदय मेरा हृदय है) नामक काव्य-सकलन मे स्पष्ट कर दिया है कि 'मानवता ही मेरा इतिवृत्त है।' 'इटिपेरु चैतन्य' (घर का नाम है चैतन्य) मे 'उन्मुक्त-मानवता-विहग' के उत्ताल-गगनांचलो को स्पर्श करने की अपनी अभिलाषा को अभिव्यक्त किया है। इन मुक्तक कविताओ से सन्तुष्ट न होकर मानवता के विकास-क्रम की भूमिकाओ का चित्रण 'भूमिका' शीर्षक सुदीर्घ गीतिकाव्य मे किया है। अठारह खडो की इस 'भूमिका' मे मानव की प्राथमिक शिशु नागरिकता से लेकर, वेद-मत्रो की रचना करने वाले महर्षि, आदि काव्य के निर्माता वाल्मीकि, पंचमवेद के कर्ता भगवान व्यास, भू और दिव को एक कर सकने वाले प्रतिभामूर्ति कालिदास, संसार को ही रङ्गमच माननेवाले शेक्सपियर, स्वच्छ-स्वेच्छा कवित्व-व्यक्तित्व से संपन्न पोतन्ना, सूक्ष्म सामाजिक दृष्टि से युक्त वेमन्ना, महोन्नत भाव-संपन्न मानवता-मूर्ति लिंकन, मार्क्स, गान्धी, सुकुरात, ईसा, धरालुब्ध सिकन्दर, तेजश्शाखी गौतमबुद्ध, अशोक आदि के व्यक्तित्वो मे निहित मानवता को काव्यात्मक रूप में दरसाने का सफल प्रयास किया है डा० रेड्डी ने। मानवता को 'निरन्तर पल्लवात्मक' मानते हुए, विज्ञान और कला के

क्षेत्र मे उच्चतम शिखरो को प्राप्त कर, पचभूतो और मृत्यु को जीतकर, अमर वन जाने की मानव की उत्कट इच्छा को काव्यात्मक विधान से प्रस्तुत किया है। मानव के मनोभाव ही उन-उन परिस्थितियो मे सर्जनात्मक प्रतिभा की भूमिकाएँ वनती हैं, इस तथ्य को डा० रेड्डी जी ने रमणीय काव्य का रूप दिया है।

मथन, मृत्यु से और जीवन की ओर नामक काव्य-संकलनो के बाद, मानवता के विकास को एक वृहत्तर कैनवास पर चित्रित करने वाला समग्र काव्य है 'विश्वंभरा'। यह वचन-कविता (व्लैंक वर्स) मे लिखा गया प्रथम समग्र काव्य है। लगभग पाँच वर्प के मनोमथन के परिणाम स्वरूप डा० रेड्डी जी ने इस काव्य को रूपायित किया है। मानव के 'आदिम दशा से आधुनिक दशा' तक के विकासक्रम का कलात्मक, वैज्ञानिक एव आध्यात्मिक-मूलभूत जीवन तथ्य इस काव्य मे प्रस्फुटित हुआ है। इस काव्य मे मानव को ही नायक, मानव की कथा को ही इतिवृत्त, विशाल विश्वंभरा को ही रङ्ग भूमि, प्रकृति को ही कथा का नेपथ्य, मानव की विविध भूमिकाओ को उसकी मन शक्तियो पर आधारित माना है। प्रथम खड (सर्ग) मे मानव-सृष्टि के पूर्व की प्रकृति का वर्णन है। उसके बाद आदि-मिथुन के प्रणय का तथा आश्चर्यप्रद प्रकृति के प्रति आदि मानव की प्रतिक्रियाओ का तथा प्रकृति की विभीषिकाओ से अपने आपको बचाने के प्रयासों का चित्रण है। उसके पश्चात् आवश्यकताओ के अनरूप आविष्कार कर, भौतिक-सुखो से संपन्न वनने वाले मानव के विश्व-व्यापी विस्तार का चित्रण है। द्वितीय सर्ग मे मानव की कलात्मक साधना का—सगीत, नृत्य, कवित्व, चित्रलेखन, शिल्पकला आदि ललित कलाओ मे उसकी अपार विद्वत्ता का तथा अनन्त प्रतिभा का काव्यमय प्रतीकात्मक चित्रण है। तीसरे सर्ग मे मानव के विविध मनस्तत्त्वो को, उसकी अगाध मन.शक्ति को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। काम, क्रोध, लोभ आदि प्रवृत्तियो के वश होने पर मानव की पतनावस्था का, सत्य, सत्त्व, दया, करुणा आदि गुणो के कारण मानव के औन्नत्य का प्रतीकात्मक वर्णन है। चतुर्थ सर्ग मे आध्यात्मिक क्षेत्र में मानव की तात्त्विक चिंतन शक्ति का, विज्ञान के क्षेत्र मे प्राप्त प्रगतिशिखरो का और मानव की निरन्तर की उद्योगशील-प्रवृत्ति का चित्रण है। पचम सर्ग मे विश्वमानव कल्याण के लिए महापुरुषो द्वारा प्रस्तुत सामाजिक सिद्धान्त, उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए चलाए गए आन्दोलनो का वर्णन है। साथी मानव की स्वतन्त्रता को, सर्वमानव समता को प्रवोधित करने वाले लिंकन, पूंजीपतियो के अत्याचारो का खंडन कर, श्रमजीवियो के उद्धार को उद्घोषित करने वाले मार्क्स, शान्ति

और अहिंसा द्वारा भारत को मुक्त करने वाले महात्मा गान्धी आदि महापुरुष इस सर्ग मे प्रतीको के रूप मे उभरकर आते हैं। इस काव्य में सर्वत्र इसी विधान को निभाया गया है। कहीं भी किसी व्यक्ति का नाम न लेकर, उसकी विशिष्ट प्रवृत्ति के वर्णन द्वारा उस व्यक्ति को संकेतित किया गया है।

'सहमानव हनन' से प्रारम्भकर, 'सहमानव जीवन' तक की इस निरंतर यात्रा मे, नितनूतन प्रयोगो पर आधारित मानव की प्रगति का चित्रण इस काव्य में रमणीय प्रतीकात्मक रूप मे हुआ है। इस काव्य के मूल तत्त्व को कवि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'ऋपिता का, पशुता का
संस्कृति का, दुष्कृति का
स्वच्छन्दता का, निर्वन्धता का
समार्द्रता का, रौद्रता का
पहला वीज है मन
तुला रूप है मन।
मन का आवरण मानव
मानव का आच्छादन जगत।
यही है विश्वभरा तत्त्व
यही है अनंत जीवन सत्य।'

'विश्वभरा' काव्य की विशिष्टता उसके प्रतीक-संयोजन मे है। वैसे नारायण रेड्डी जी की रचनाओ मे प्रारंभ से ही प्रतीकात्मक-रचना-विधान के दर्शन होते है। इस काव्य मे वह अपनी चरमसीमा को पहुँच गया है। इस काव्य मे व्यक्ति प्रधान नही, मनश्शक्तियाँ प्रधान है। मानव-प्रवृत्तियो को प्रतीको के रूप मे ग्रहणकर रेड्डी ने व्यक्तियो की मानसिक प्रवृत्तियो को विश्वजनीन बनाया है। 'रागात्मा' जर्मन देश के गीतकार 'बीथोवेन' का, 'तपस्या' विश्वामित्र का, 'अहंकार' इन्द्र का, 'शंपालता' मेनका का, 'मन' गौतम बुद्ध का, 'धरालोभ' सिकन्दर का, 'प्रश्न' सुकरात का, 'क्रान्ति' ईसामसीह का, 'चरण' लिंकन, लेनिन और गान्धी के प्रतीक हैं। इस प्रकार अनेक प्रसगो मे अनेक प्रतीको को स्वीकार कर, इस काव्य मे मानवता को देश-काल की सीमाओ मे परिसीमित न कर, विश्वजनीन बनाया है।

'कविता है मेरी मातृभाषा' कहने वाले नारायण रेड्डी के काव्य मे व्यजना-शक्ति अनेक विचित्र और रमणीय रूपो मे दर्शन देती है। एक उदाहरण लीजिए:

निषिद्ध-फल खा चुकने के बाद आदि दंपतियो को अपनी नग्नता का ज्ञान तथा स्त्रीत्व और पुरुषत्व का आभास हो जाता है। उस भाव के उदय के बाद उन्हें प्रकृति कैसे दिखाई पडी ? स्वयं कवि के ही शब्दो मे सुनिए—

'दीख पडा प्रतिवृक्ष
हरी-हरी शाखो को ओढकर।
पुकार उठा प्रतिविहग
चमकीले पंखो को ढालकर।
मचल उठा आसमान
मेघ-वसन पहनकर।'

अर्थात् वृक्ष टहनियो को, पक्षी पखो को और आकाश बादलो को पहने हुए, अपनी नग्नता को छिपाए हुए दिखाई पडे। रेड्डी जी के वर्णन-चमत्कारो से सारा काव्य भरा पडा है।

परिमल-ज्वालाएँ, पल्लव-जयंतियाँ, सस्यालय, बाल्य-कुल्याएँ आदि-आदि उपमान एकदम नूतन और पाठक को चमत्कृत करने वाले हैं। भावों के अनुरूप काव्य के चरणो को छोटा-बडा करना, बिना क्रिया के वाक्य की रचना करना, क्रियाओ को कही चरण के प्रारम्भ मे, कही बीच मे और कहीं अन्त मे देकर रचना को प्रभावयुक्त बनाना, असमापक क्रियाओ से चरण को समाप्त करना आदि रेड्डी जी के रचना विधान के चमत्कार हैं। इस प्रकार तेलुगु की वचन-कविता के क्षेत्र मे 'विश्वभरा' सचमुच एक उत्तुग गिरिशिखर है।

डा० सी० नारायण रेड्डी का कृतित्व

गेय काव्य

फूलो के गीत (१९५१-५२)

गेय नाटक

अनहँसा फूल(१९५३), अजन्ता सुन्दरी(१९५५), ज्योत्स्ना वीथी (१९५९) पीढियो की तेलुगु ज्योति (१९७५)

खंड काव्य

जल प्रपात (१९५३), नारायण रेड्डी के गीत (१९५५), दीपो के नूपुर (१९५९), अक्षरो के गवाक्ष (१९६५), मध्यवर्ग का मदहास (१९६८), एक और इद्रधनुष (१९६९), आग और इन्सान (१९७०), आमने-सामने (१९७१), इन्सान और तोता (१९७२), उदय है मेरा हृदय (१९७३),

परिवर्तन है मेरा फैसला (१९७४), तेज है मेरी तपस्या (१९७५), घर का नाम है चैतन्य (१९७६), मंथन (१९७८), मृत्यु से (१९७९)

सुदीर्घ गीति काव्य

विश्वगीति (१९५४), भूमिका (१९७७)

इतिवृत्तात्मक गेय काव्य

नागार्जुन सागर (१९५५), स्वप्नभग (१९५७), कर्पूर वसतराय (१९५७), विश्वनाथ नायक (१९५९), ऋतुचक्र (१९६४), निखरा (राष्ट्र का) रत्न (प० नेहरू) (१९६७)

गीति नाटक

रामप्पा का मदिर (१९६०), नारायण रेड्डी की नाटिकाएँ (१९७८)

गेय-सूक्ति-संकलन

समदर्शन (१९६०)

निवध संकलन

व्यास-वाहिनी (१९६५), हमारा गाँव बोल उठा (१९८०), समीक्षण (१९८१)

शोध प्रबन्ध

आधुनिक आध्र कविता : परम्परा एव प्रयोग (१९६७)

अनुवाद

गान्धीयम् (१९६९) (महात्मा गान्धी जी की सूक्तियो का अनुवाद)
मीरावाई (१९७२) (मीरा के ५० पदो का अनुवाद)
चोटियाँ और घाटियाँ (१९७४) (खलील जिब्रान का अनुवाद)
मोतियो की कोयलिया (१९७९)
(सरोजिनी नायुडु के ५० गीतो का अनुवाद)

व्याख्या

मदार मकरद (भक्त प्रवर पोतन्ना के ५० पद्यो की व्याख्या)

यात्रा संस्मरण

शौक से तीन सप्ताह (यूरोप की यात्रा)
सोवियत रूस मे दस दिन
पाश्चात्य देशो मे पचास दिन
फिर रूस मे

सिनेगीत

दिन मे ही चाँदनी

• • •

विश्वंभरा

•

एक

मैं जन्मा ही नही था
सिर पर नीला परदा
पैरो तले गर्द की परत।
परदे पर जडे काँच के टुकडों में
जुगुनुओ की पलकें हिल उठी।
अग्निपिडो से
छूट निकले कच्चे कातिगण
बिछ गए दूध्र की मलाई जैसे
भाप में वह परदा सुलग उठा
बिखर पडे जडे काँच के टुकडे।
इस परत मे फूट पडे
बीजों के गर्भ-कोशो के
बिरवो की नसो मे खून भर उठा।
टाँग टूटकर धरा पर गिरे मेघो के
फिर से टाँगे उग आईं।
इस परदे मे जड़ मौन का
अंगडाई लेना ही क्या था
पख, खुर, सीग, दाढ
दिशागमो मे ललकार उठे।

मैं जन्मा ही नही था
मेघो ने कितनी प्रतीक्षा की होगी

(कि) नजरों की सीढियों पर चल आकर
हमें निचोड़ लेने वाली तपन कहाँ ?
सितारो ने कितनी बाट जोही होगी
(कि) गणित के सूत्रो से हमारी गतियों के
मणिहार गूँथने का मनन कहाँ ?
उषाएँ कितनी उद्विग्न बनी रही
(कि) बिखर खिले हमारे नयन-सागर में
बौराकर उफननेवाली विमुक्त आत्माएँ कहाँ ?
चाँदनियाँ कितनी तडपती रही
(कि) हमे ओढकर
सुधबुध खोनेवाले मिथुन कहाँ ?
बाँसो को कितनी अकुलाहट
(कि) प्रत्यंग नाद मे बदल जाएँ
चट्टानो की कितनी विह्वलता
(कि) अणु-अणु मूरत बन मुखरित हो जाएँ
मयूरो को कितनी उत्सुकता
(कि) अपनी चरण-लय को कोई बटोर ले
कलकंठो को कितनी उत्कंठा
(कि) किसी कठ मे अपनी तान बेल चढ़े
रह-रहकर सरोवरों ने उभर देखा होगा
(कि) कुनकुने शरीरो को हृदय से परस देखे
उफन-उफन कर सागर ने
गगन-पिता से याचना की होगी
(कि) अपनी छाती पर खेलने वाली
शिशुओं-सी तरियाँ कब आवेंगी ?

हाँ, मैं जन्मा ही नही था
सुओं की चोचो में पल्लवित बोल
आँधियो के पंखो मे फन फैलाए शोर
शायद एक ही हैं।
पत्तो के घूँघट मे छिपे झाड़ो के

मुखड़ों को भून देने वाली तीखी धूप
झाड़ों के भुने गालो को छूकर
फिर से चमका देने वाली दूधिया चाँदनी
शायद एक ही हैं ।
पूर्व शिखर पर
मस्तक-केतन फहरा कर
कदम उठाने वाला प्रभात
पश्चिम के फाँसी के तख्ते पर
उजाले के सिर को लटका देने वाला निशीथ
शायद एक ही हैं ।
तिमिर-पत्र पर
पूँछों से
अक्षर तराशने वाले खद्योत
अंबर के टीलों पर
पारे के झरने
फैलाने वाली विद्युत् वल्लरियाँ
शायद एक ही हैं ।
गहराइयो को वश मे लेने वाली घाटियाँ
ऊँचाइयो को उभारने वाली चोटियाँ
शायद एक ही हैं ।
मधुबिंदुओ को जोड़ सीने वाली मक्खियाँ
विषबिंदुओ को नीड़ बनाने वाली नागिनियाँ
शायद एक ही हैं ।

तो फिर, मैं हूँ कौन ?
किस गगन-घराने का हूँ ?
किस काल का नन्हा हूँ ?
किस उन्मत्त शक्ति का फेंका क्रीडा-कंदुक हूँ ?
क्यो ऐसा लोट रहा हूँ ?
इन परतो को अंग से लपेटकर
क्यो ऐसी करवट ले रहा हूँ ?

कौन वह जो मेरे पीछे
छाया जैसी
मुझे बुलाती आवाज
दोनो की एकता का अन्दाज़ ।
वह रूप पीछे पड़ा मेरे
काली घटा जैसा ।
आकाशी आलिगन मे दाब लूं ?
वह मूर्ति
वर्षा की नदी-सी उफन रही
कूल-करो से समा लूं ?
वह चितवन
तिमिर को चीर रही
मन की मुट्ठी मे समेट लूं ?
वह मुस्कान
पूर्णिमा को लाद लिए आ रही
देह-देहली मे उतार लूं ?
उस परस की बरसती अनुभूति
अथाह सुप्त सागर-तरंगो की उद्धति ।
उस गुहार की अनूदित आर्द्रगीति
हृदय-युगल की सम-लय की आविष्कृति ।
पता चला तब धरती को
(कि) मैंने अबर को ओढ लिया है ।
तब पता चला निर्झरी को
(कि) मैंने अबुधि को पहन लिया है ।
समीर ने अपने को सूंघ लिया
फूलो की साँसो से देह भरपूर
तरु ने अपने को परस देखा
तरुणलतिकाओ के चिह्नों से तनु भरपूर ।

-

ऐसे मिले आदि-मिथुन के
अंतरग में एक स्मृति-विहग

अपने पखो की नोक से
खीचा उसने एक स्वप्न वर्णचित्र।
उस चित्र मे थे हम ही
पर
आकृति और प्रकृति अलग-अलग।
तब नही थी इस अनुभव की छाप
वह थी जागती नीद।
तब कहाँ यह रस-मथन
वह थी एक जड-चेतन।
तब की चितवन
शिलाओ पर बहनेवाली एक हवा,
तब का स्पर्श
हिमखड की मौन भाषा।

चाल थी
जिसे चरण जानते ही नही
वाणी थी अधर जिसे जानते भी नही
दृश्य था
पर साँझ-सवेरा नही
काल था
वह अचल बहती नदी
तब थे हम दोनो
उस वन मे खिले खिलौने
विचरते थे पवन तरगो जैसे
बिखरे पराग-फेन जैसे
उधर कुछ पेड
अमृत को फल बना स्वागत करते
इधर एक ही पेड़
कभी अपने फल को छूने से
वर्जन करता।
उन फलो की रुचिर रुचियो से

मस्त बने अपने रसना-शुकों को
वर्जित फल छूने की
इच्छा तो थी ।
शासन गरजे तो
कामना बुझती नही
भड़क पड़ता है और भी ।
अवरोध के बढने से बाढ़
रुकती नही
उमड़ उठती है और भी ।
सहचरी के मन की एक आहट
सांप जैसी बदली करवट ।
किसी एक प्रलोभन ने
बजायी सीटी फूत्कार-सी ।
कोई एक रुचिर भावना
जाग उठी भवितव्य-सी ।
कितना स्वाद उस वर्जित फल का
कितना वेग इस विमुक्त हृदय का ।
पत्ते बनकर सब तोते
शाखाएं बनकर सारिकाएं
बिखराये कलरव की बिजलियो मे
विवेक खिल उठा उदय-सा
सहस्र पत्रो का ।
उस प्रभात ने बताया हमारे मनो को
तब तक अज्ञात विज्ञता को
उस आभा ने बताया हमारी आंखों को
अंग-अग में उमड़ती नग्नता को
दीख पड़ा प्रतिवृक्ष
हरी-हरी शाखो को ओढ़कर ।
पुकार उठा प्रति विहग
चमकीले पखो को ढालकर ।
मचल उठा आसमान
मेघ-वसन पहनकर ।

हम दोनो वे ही पुराने
आमने-सामने रहते
अंजुरि-भर दीठियो को उडेलने वाले ।
अब
अपने शरीरो के दीखते ही
टूटती चितवनो से
चौंक कर
ओढ़ लिया झाडियों को
खोज लिया पहली बार
अपने अतरो को ।

"ऐ, कहाँ हो तुम ?"
"इस झाड़ी मे अतीत को ओढ लिया है ।"
"किस जादू का असर है यह प्रलोभन ?"
"अभी-अभी तो खुला है कांति-नयन ।"
"यह कठ तो तुम्हारा, पर कहाँ तुम्हारी सहचरी का ?"
"मुखरित इस कठ का, शब्द शब्द दोनो का ।"
"जानते हो शासन-अवज्ञा का फल ?"
"जानता हूँ । मिट्टी-सा अकुरित एक और जीवन ।"
"उस जीवन को पल-पल मृत्यु-भीति ।"
"उस मृत्यु की दाढो से खेलने मे हमारी प्रीति ।"
"तब तो माटी के मानव । चला जा उसी माटी मे ।"
"ठीक है, जाकर उफनाता हूँ उस माटी को अंबर के सिर पर ।"
"यहाँ तक बढ़ी है तुम्हारी अहंकृति !"
"वही शुरू होती है मानव-सस्कृति ।"

मिट्टी मे गिर पड़ा
मौन-सा खडा रहा
सामने उगता सूरज ।

न जाने कहाँ का है ?
मुझ-सा ही उभरता आ रहा ।
नभ-सागर मे कर सहस्र से तैर रहा ।
कीचड हँस पडी कमल बन
फूल खिल उठा भ्रमर बन
पृथ्वी चल पड़ी चरण बन
जडता हिल उठी हरिण बन
जल के पंख उग आए
गह लिया गगन को ।
गगन के चरण चल पड़े
घर लिया धरती को ।
मैं भी चल रहा हूँ
एडी न पलटाने वाले मार्कण्ड-सा
विहगो के कूजनो को बिखेरते हुए ।
प्रवाहो के तुषारो को उडाते हुए ।
चल रही है मेरे पीछे-पीछे
तरुशिखाएँ सिर हिलाती हुई
वन-बेलाएँ रास रचाती हुई
नन्हे-शाद्वल चुटकी देते हुए ।
चल रही हैं मेरे पीछे-पीछे
कितनी ही पवन-तरगिणियाँ
गुफाओ के अतर को गुजरित करती हुई
कुसुम-वृन्दो को परिचालित करती हुई ।

मित्र ! तुम्हारे आगमन से
धात्री बनी नव चैतन्य गात्री ।
आप्त ! तुम्हारी रेखा से,
ढली प्रकृति प्रतिभासित द्युति
अजी ! रुको पल भर
अवनी उठी आरसी बनकर ।
देख लो कितना कुम्हला गए ।

ठहर जाओ, कितना थक गए !
यह क्या
अनजाने दलदल मे
क्यो धँसते जा रहे हो ?
तुम्हार चमकती अरुणिमा में
पैठ रही कठिन कालिमा।
अरे किस नीलिमा ने चुराया मेरे नयनों को
किस तिमिर ने निगल लिया उन किरणो को ?
कहाँ ? मेरा मित्र कहाँ ?
व्योम और भूमि की
सीमाओ को मिटा देनेवाला
वह विश्वमित्र कहाँ ?
कहाँ गए मेरे सहचर
पाखी और फूल ?
अधकार के पजे की चपेट से डरकर
कही आकाश की शरण तो नही ली
कंपकंपाते तारे बन कर
कहाँ वह मुझे चलाने वाला
लोक साक्षी ?
घिर-घिर आये अधियारो के
आक्रमणो से विवश हो, भागकर
छिप गया क्या शून्य में
तपन हीन चाँदनी का टीला बन कर ?
क्या ऐसा ही होगा मेरे साथ ?
लँगडते लँगड़ते एकात मे
ढह जाने वाली आशाओ को घसीटते हुए
कोचड़-सी अँधियारी मे
हाँफते-हाँफते जाना ही पड़ेगा ?
ये कराहे चीख बनाकर,
वे चीख आर्द्रघोष बन,
फूंक न देंगी निशीथ को ?
चीर न चलेंगी रोदसी को ?

मेरी पुकार सुना ली हो अंबर ने
हामी भरी हो दिशा-कुहरान्तर ने
उमड़कर आया वही भानु विंब
उफनकर आया आशा-पूर्ण कुंभ।
छलकते उस पूर्णकुंभ के बिंदुगण
अंकुरित हो रहे पल्लव वन
बरसती उस तरुण-किरण के कण-कण
खिल रहे कलियाँ बन।
तरु-तरु बढ रहा।
हरियाली साँसो से।
सुमन सुमन बोल रहा
परिमल की भाषा से।
मचल रही मेरी सहचरी
लताएँ हजार बल खा गई
मुस्कुरा रही मेरी सहचरी
तीखे बन फूल सनसनाते आए।
निकट आई वह मृदुलता सी
मेरी नसो मे बिजलियाँ कसरत कर उठी।
परसा कुछ नई रीति से
मेरा सर्वस्व
मधुर गर्व से
फन फैला उठा।
कैसी यह अनुभूति
मानो दिल की गहराइयाँ
उड़-उड़ कर जा रही हो।
रक्त मे अव्यक्त राग घोटे जा रहे हो।
कैसी यह विचित्र-वाछा
समस्त सुदरताओ को एकदम पी जाने की
परिमलो की लौ मे गिर मर जाने की।
हूँ अपनी सहचरी के परिरभ मे—
सांस मे सांस झूम-चूम हो गई
है सहचरी मेरे परिरभ मे

युग पिघल-पिघल पल बन गया।
करवट बदली परवशता ने।
एक और पहलू दिखाया प्रकृति ने।

यह क्या ?
इस नदीगर्भ में मरुभूमि लेटी हुई है।
उफनती लहरो को निगल कर
गरम रेत की जुगाली कर रही।
हडप लिया बरफ की तोदों ने
हरित शाद्वल को।
आक्रांत किया कुहरे की परतों ने
प्रज्ज्वलित दिशाओ के भाल-देशों को।
क्या थम गई इन वृक्षो की साँस रुक गई ?
खड़े हैं ये लाशो जैसे।
सिसकियाँ भर रहे फूल-पत्ते
पंख जले पतगो जैसे।
क्या मेरे साथ भी ऐसा ही होगा ?
रेत की ढेर-सा ढहकर
बरफ के टीले-सा ठिठुर कर
देह को हरित मुखरित करनेवाली
साँस खोकर
पृथ्वी पर चिर जड़ बनकर
रह जाना होगा ?
मस्तिष्क मे घुन-सी लगी शकाओ के मध्य
मन को घोट देने वाले भीतियो के मध्य
तन मे उलट चलने वाली नसो के मध्य
अन्तर मे शोर मचाने वाले ग्रह-भ्रमणों के मध्य
नकार दिया गला फाड़कर जीवनदी ने।
नकार दिया फूलो को उगलते हुए
समागत वासतो-सजीवनी ह्रदो ने।
सृष्टि के मूल को उघाडकर दिखाया जीव प्रकृति ने

यवनिका हटाकर दरसाया विश्वंभरा को
नूतन मति ने।
उरगो जैसी रेगती अंधियारियाँ
अंधियारियो को ढहाती उजालों की सीढ़ियाँ
दिशाओ को निगलती मरुभूमियाँ
मरुभूमियो को पालती हरियालियाँ,
शाखाओ को कुतरती बरफ़ की दाढ़ें
घावो मे हरियाली भरती
वासती पवन धाराएँ
अव्यक्त रूप से आकृति धरती
खून की लोथड़ियाँ
चीख-चीख रोती उन लोथड़ियो के कंठ
दूधिया मुस्कानो को चूसते ओठ
मधुर-मधुर झूमती इंद्रियाँ
तरसते कराहने वाले अवयव।
एक तन मिट्टी मे
एक प्राण धरती पर।
यही क्रम प्रकृति का
यही क्रम
प्रकृति को अर्द्धांगिनी बनाये
प्रत्येक पुरुष का।

अब पता चला
आग को फूंक देनेवाला कोई नीर भी है।
जल को उड़ा देनेवाली कोई आग भी है।
फूलो को उगानेवाले शूल भी हैं
शूलो से सवाल करनेवाले फूल भी हैं।
अब पता चला
अंध-तिमिर के
आकाश-भर करोड़ो नैन हैं।
सूर्य-चन्द्र को चुमलाकर छोड़ देनेवाली

सूक्ष्म शक्तियाँ भी हैं।
धरती पर चरण न धरनेवाला यौवन
कीचड़ में धंस जाएगा।
नित्य दीप्त समझा जीवन
पल भर में बुझ जाएगा।
ऐसा अब पता चला।
मानव के अतराल में
गरजते कानन
गडगड़ाते सागर
उद्विग्न जल प्रपात
उत्क्रांत झंझामारुत
मेडो को डसनेवाली नदियो की फूत्कार
पहाडो की जड़ो को उखाड़नेवाले
भूगभ का चीत्कार।
चोख पडा विस्मय सहस्र कंठो से
नोच डाला भय ने लाखो नखो से।
ध्वनि, मानो आकाश फूट पड़ा हो
विह्वल मानव की पीठ पर
तपतप करती बूंदें।
वह अनुभव है अमृत
पर है वह क्षणिक।
वर्षा, मानो आकाश टूट पड़ा हो
छत्र बना वृक्ष
कुछ ही देर में वह भी छिन्न-भिन्न हुआ
शिर पर जलती ज्वालाओ से।
गुफा का हृदय खुल गया
गिरि-समुन्नत-करुणा से।
फिर मेघ सी गर्जना
छलाग भरते दो अग्नि-कण
क्षण भर के लिए
असहाय बना देनेवाला निर्दोष
गुफा से छूट निकले आदमी पर

धसे नाखूनों के कच्चे निशान।
गुफा के नखो से त्रस्त मानव के लिए
नीड़ वना नदी का कूल।
बहती वह नदियाँ लगी उसे
जैसे दूधिया उँगलियों से थपथपाती हो।
गुफा दनदनायी झोपड़ी पर
नाखून के लिए वरछी
दाढ़ के लिए तलवार
वह था आत्म-रक्षा का पहला पाठ
मृत्यु-हत्या का मूल-पीठ।

नदी की लोरी कव तक ?
जल मे उद्वेलन तक।
झोपड़ो बह गई सूखो-पत्तो-सी
मानव के लिए रह गया एक और प्रश्न-सा।
मकान उग आया
ईंट को स्नायु वनाकर
फौलाद का सहारा लेकर।
पड़ गया गुफा का मुँह गूंगा
भीत हो गई वाढ़ की गर्जना।
काल को पहन लिया मानव ने
काट कर, सीकर।
पृथ्वी को नाप लिया मानव ने
चारो दिशाओ को गाड़कर
पाट दिया घहराती नदी को
वरछी जैसे हाथो से।
चल पड़ा सागर की सतह पर
तरियो के तलुओं से।
घुस गया चट्टानो के सीनो मे
सुई की आँख मे धागे-सा।
टूट पड़ा गहन-कानन मे

आग उगलते बाण-सा।
काठ की रगड़ से निकली चिनगारियों को
नाखून के छोर से छिड़क कर
पथराकर पड़ी हुई धरती को
कोपल-मुखों से मुखरित कर,
जगल मे खिलती सुन्दरता को
आंगन में रोपकर
दाढ़ों के मध्य कांपते प्राणियों को
गाँव की गोद मे पालकर,
घूमते चक्रों के वेग में
जीवन की दौड़ को ढालकर,
बहते कच्चे जल को
पक्के हृदय से बुलाकर,
विस्तरित हुआ मानव
विश्व को अपनाकर,
व्याप्त हुआ मानव
आकाश को मुट्ठी में दबोच कर।

दो

मानव के मन मे
एक नया प्रभात ।
मौन से उखड़ कर
तद्रा को चीर कर
ऊर्ध्व मुख उड़नेवाला
उन्मत्त नाद जल-प्रपात ।
कहाँ का है यह नाद ?
क्या निकला नाभि-मूल से ?
वलयित हुआ नसों में लतिकाओं-सा ?
मन की घाटी में घूर्णित हुआ ?
मस्तिष्क के छोर मे गुजित हुआ ?
कितने मोड़ इसके
कितनी दौड़ इसकी
प्रकृति के सकल कोलाहलों का
क्या पाठान्तर है यह ?
पशु-पक्षियो की चीख-पुकार का
क्या प्रतिरूप है यह ?
कही किसी हरे झुरमुट मे
उमड़ उठा झँकार;
वह है नाद-गर्भ का प्रसवित षडज
कही किसी बदरियो की छाँव-मे
गुजरित चातक-स्वन;
वह है नाद वर्षण का प्रसरित ऋषभ

कही किसी शाद्वल खड में
विमुक्त मेषस्वर;
वह है नाद-क्षोणिका स्पन्दित गांधार
कही किसी नदी तीर पर
पंख फैलाए क्रौच कंठ;
वह है नाद-मारुत का छेडा मध्यम ।
कही किसी डाली की गोदी में
पल्लवित कुहूकार;
वह है नाद-तरु का परिमलित पचम ।
कही किसी तलैया के तले
गड्डूषित मंडूक ध्वनि,
वह नाद-सरसी मे तरगित धैवत ।
कही किसी पहाड़ी तराई मे
दिशाओ को धमकाती चिंघाड;
वह है नाद-रोदसी का निनादित निषाद ।
मानव मे उभरी धाराएँ सात
है स्वयं स्वर-संगम ।
निज घट में प्रवाहित पवन सात
है स्वय प्राण-सपुट ।
प्रकृति का मूल नाद ही
नि सृत हो आया अपने में ?
अपने जीवनाद ने ही
प्रस्थान किया प्रकृति में ?
अपनी साँस ही सचरित हुई श्रुति बन
(तो) बाँस चला आया बाँसुरी बन
अपने नखो में खिल उठी पुलकन
(तो) लोहा पिघल आया वीणा बन
अपनी उँगलियो मे झूम उठी तरंग
(तो) चाम चला आया ढोल बन ।
काँस साथ आया ताल बन ।

न जाने रागात्मा के कितने छोर ?
नादात्मा की कितनी लहरें ?
खिला सभासरसी में कमल-सा
गूंजा समर-स्थल में शंख-सा
मुखरित किया हरे खेतों को गीत-सा
बुलाया दूधिया नींद को लोरी-सा
उजलाया मंदिरों को आरती-सा
अनूदित किया आर्ति को आर्द्र पदावली-सा
रह गया धरा गगन के बीच नसैनी-सा
जोड़ दिया अंतरंगों को सेतु-सा
पैठ गया स्थाणुओं में जीव-लहरी-सा
खिल उठा अंधियारी मे दीप-शिखा-सा
पिघलाया सींगों को मोम-सा
नचाया फनों को मंत्र-सा।

एक निशीथ मे
चल रही थी रागात्मा नदी के किनारे-किनारे।
परवश आँखें तैर रही थी
भरी ज्योत्स्ना के पारावार में।
"है कितनी सुहानी यह चाँदनी
कितना भी तैरो, बुझती नहीं प्यास।"
"कैसी होती है चाँदनी !"
तरस उठा एक प्रश्न
रागात्मा के सम्मुख एक नन्ही मुन्नी
मूक-नयनों में तिमिरों को लादे।
रागात्मा में तरंगित जिज्ञासा
अंधी अँखियाँ को चाँदनी दिखाने की।
रागात्मा बोल उठी भरी चाँदनी-सी
उमड़ आई चाँदनी नाद-निर्झरी-सी।
निनादित वह चाँदनी
सूझी नन्ही को

चमेली की पंखुड़ियों-सी
दूध की धाराओ-सी
नीहार-यवनिकाओ-सी
शारद-नीरद-मालिकाओं-सी
कलहस-पक्षो-सी
पिघले नक्षत्रों-सी ।
विकसित हुई नन्ही के मन में
चद्रिका-दर्शन की अनुभूति ।
सुनाई दी नन्ही के नयनो मे
विश्व की रची चित्र-गीति ।

मानव के मन में एक प्रकंपन ।
चरणों में सिर उठाए
अंग-अग में तरगित
सुप्त चेतना को समुद्विग्न किए
दीप्त लय का स्पन्दन ।
तलुओं मे पैठ गए
कुलाँचते हिरण ।
चरणों मे फैलाए कलाप
सम्भ्रमित मयूर ।
कमर मे बल खा उठी
फन फैलाई नागिनियाँ ।
कर-युगल मे मोड खाती रही
फैनिल निर्झरियाँ ।
ग्रीवा झूल उठी तरु-शाखा-सा
सिर हिल उठा अनल-शिखा-सा ।
कहाँ की है यह गति ?
क्यो इतनी लय की उद्‌गति ?
यह है सृष्टि का जीव-हेतु
प्रकृति पुरुष को मूल-धातु ।
भ्रमण विना रह नही सकती धरती

वहे बिना रुक नही सकता पानी
प्रयाण बिना लुक नही सकती ज्योति
चले बिना रह नही सकता पवन ।
ग्रह-नक्षत्रों को चरण बनाकर
निसि-दिन चले बिना
चुप नही रह सकता
अनाश्रय गगन ।
अपने ही तन मे है वह भुवन
अपनी ही साँस मे है वह पवन
अपने ही रुधिर मे है वह प्रवाह
अपनी ही आँखों मे है वह प्रसार
अपने ही सिर मे है वह भ्रमण ।

प्रकृति की गतिशीलता का
परिणाम है मानव ।
जगत के भ्रमण-गुण का
प्रतिरूप है मानव ।
गीत-सा फैला मन
खेल-सा झूला मन ।
शब्दो को ओढ़कर
अर्थों को बुनकर
बोल उठा अनन्त मुखो से
उमड़ उठा विभिन्न कंठो से ।

अंधकार मे दीखता नही इशारा,
सुख है या दुख
व्यक्त नही कर सकती उन्मत्त चीख ।
उमड़ने वाले अंतर को
दिखला नही सकता कोरा शब्द ।
कैसे खोलूं अन्तर की परतो को ?

कैसे रूपायित करूं कल्पना-समीरों को ?
उत्तर में बोली प्रकृति
"लो, यह मैं हूँ।"
मन के प्रत्येक स्पन्दन को
बुला लो ओंठ पर।"
अपने में एक कल्लोल—
गरज उठी सागर-तरंग।
अपने में एक उल्लास—
पुलकित हुई पूनम की किरण।
अपने में एक वेदना—
सम्मुख सावन की बदरिया।
अपने में एक गर्जना—
छलांग मारी सिंह शावक ने।
अपने में एक माधुर्य—
बतिया उठा रास-निलय।
अपने में एक मात्सर्य—
जम्हाई ली धूम-वलय ने।
अपने में एक नियत —
सामने निस्तरंग सरसी।
अपने में एक विकृति—
छायी अमास की निशि।
प्रकृति बोल उठी कृति बनकर
कृति रूपायित हुई मानस-आकृति बनकर।
चलती जा रही है काव्यात्मा
मन की यवनिका पर परमहंस-सी,
काल की परतों को खोलती
विश्व की गहराइयों को खोजती।
चीख उठा बलिपशु का कंठ
गरज उठा वरुण-मंत्र-सा।
भग्न-हृदयी तमसातीर
घूर्णित हुआ शोक-छन्द सा।
आर्द्र विरह, हाथ फैलाकर

छा गया आषाढ-मेघ-सा ।
दृष्टि से वंचित नयन
कल्पना को पसार कर,
साकार हुआ
खोकर, पाये स्वर्ग-सा ।
काव्यात्मा ने मदिरों मे
चढ़ाए कर्पूर-नीराजन ।
क्रोधित उसी काव्यात्मा ने
बुझा दिया पंख झपका कर
संप्रदायो के द्वारा छिड़के गए मानव रुधिर को
घृत-सा पी जाने वाले दीपों को ।
काव्यात्मा ने अक्षर पहना दिये
कमनीय रास-रहस्यो को ।
विक्रमित उस काव्यात्मा ने प्रकट किया
अंवर को छूकर
कर्मक्षेत्र मे थर-थर काँपने वाले नरों को
निष्काम-कर्म के भाष्यों को ।
काव्यात्मा खिल उठी
मुखो पर पद्मो के पुनर्मुद्रण ।
नयनो में कल्हारो के कल-भाषण
होंठों पर भरी चाँदनी के प्रकाशन
गालो पर लाल किसलयों के प्रसरण ।
काव्यात्मा विह्वल हुई
पत्ते झाड़ दिए हरित वृक्ष ने
जलद-वाष्प ढुलकाए आकाश ने
छा गया कृष्णपक्ष रात्रि पर
सवार हुआ धूमगात्र धरित्री पर ।
तेवर चढ़ाये काव्यात्मा ने—
काठ के तिनके वने करवाल
मिट्टी के लादे अग्नि-गोल
भेडों के स्वर वने शेरों को गरजें
कंकाल-सघात बने प्रभंजन की साँस ।

स्वर उठाकर गा उठी काव्यात्मा—
तलवार की नोक बनी हल की अनीक
बरछे बनी गुजरित लेखनियाँ
मरुतल बने मरकत-गीत
लौह-श्येन बने रजत-कपोत।

बहा मानव रंगो की ओर
रँगती चली ललित मति रेखाओ की ओर
चलकर आया प्रकृति का सर्वस्व
स्वप्निल अगुलियो के पोरो मे।
अंकुरित हो रही हैं
सड जाने वाले चमड़ो पर
सुरभित कुसुम लताएँ
चद्र की तरुण चंद्रिकाएँ।
वह रहे हैं काठ के फलको पर
बल खाते, दौडते झरने,
मृग छौनो के तरंगित चरण।
उग आ रही हैं
मिट्टी के कोरे कुल्हड़ों के मुखडो पर
अप्सराओ की नयन-भगिमाएँ
आकाश को भी अप्राप्य तरल नीलिमाएँ।
उमड-उमड़ आ रही हैं
बुनी रुई के रेशो की कोरो पर
इन्द्र-धनु के गाढे वर्णों की तरगिणियाँ
अकुठित मधुमास हास की अटवियाँ।
पत्तो पर, पतरो पर
नाखूनो पर, दीवारो पर
करवालो की म्यानो पर, कागज़ की परतो पर
हथछडियो पर, तबूरे की पीठो पर
पख फैला उड़ चली
खुर उठा चल पड़ी

फन फैला नाच उठी
छाते उठा चल पड़ी
गतिमान आकृतियो को
रेखाओं मे समाये चित्रकलात्मा।
समीकृत रूपो में चैतन्य
उँडेलने वाली स्निग्ध-वर्णात्मा।

लेट गया एक दिन मन
घाटी की गोदी मे।
वह शिलातल पिघलता जा रहा
सपनो-सी छुअन में।
कहाँ गईं वे चट्टानें ?
कहाँ गईं वे चोटियाँ ?
दीख पड़ती नही वे वादियाँ
उड़ गईं क्या वे गुफाएँ ?
अपने इर्द-गिर्द चक्कर काट रहे
हेमपिंड, मोम के खूँट
दूध के फेन, रुई के रेशे।
आमने-सामने खड़ी घाटी मे
टूट गया वह सपना।
चौंक उठे मन मे
चमक उठी छैनी।
चल पड़ी छैनी।
जटिल-अटवियो को चीरती।
निकल पड़ी छैनी
कंदराओं के मुख-बंधनो (मुसकों) को खोलती।
थपथपाया छैनी ने
जनम से सोते निठुर पीठों को।
टटोल देखा छैनी ने
गाँठो मे उलझी पथराई चितवनों को।
शिला ने मुखरित किया

पूर्णाकार नीरव रागाकृतियों को ।
शिला ने सँवारा
गालो पर दुलहिनो के घूंघटों को ।
शिलने छिड़काया
कड़ुवे आँसुओ से भीगी आहो को ।
शिला ने सुलगाया
तांडवित नगी तलवारो के अनल-फालो को ।
अपने को छीलने वाले मानव के साथ
तादात्म्य क्यो शिला को ?
समस्त अगो को तराशने वालो छैनो के साथ
सहयोग क्यो शिला को ?
इसलिए कि
जहाँ शेर गरजते थे
वहाँ बिंबाधरो को निस्वनित किया ?
इसलिए कि
जहाँ विषनाग फूत्कार करते थे
वहाँ ज्योत्स्ना की लतिकाओ को उगाया ?
परवश हो गई शिला प्रकृति
पल्लवित हो गई स्वप्नाकृति
सुधास्निग्ध बनकर
आत्मा की आरसी बनकर ।
काननों में अवतरित कैलास-सदन
कोण मे प्रतिफलित आदित्य-वदन
अनत मे पग धरी
आनद-ताडव-हेलाएँ ।
दिगत मे रमानेवाली
दीप्त-चैतन्य-लीलाएँ ।
पिटारी में बँधी चपल नागिनियाँ
तरु-छाया में काति उभारने वाली ध्यान तरंगिणियाँ
दूधिया रंग मे घनीभूत अश्रु गीतियाँ
हाथ उठाकर, तानकर खड़ी अमर-ज्योतियाँ
कालातीत रूप मे ढली कथाकृतियाँ

प्रतीको में सँवरे विश्वास
शाही-कब्रो में कुचले निश्वास
मुद्राओं मे मूर्तिमान जनन रहस्य
त्रिकालो में साकार जीवन दृश्य
हैं शिल्पात्मा के दर्शक दर्पण।
हैं जीवात्मा से वित्तरित रूपखंड।
देख लिया मानव-मानस ने
अपनी छाया को
अनगिनत रूपो मे।
गूँथ लिया रसाहकार ने
अनुरक्ति को कोशो मे।

तीन

कितना निराला मन ?
नही उसका कोई अपना रूप।
फिर भी
नाद बन उड़ चला
पद बन चल पड़ा
रेखा बन चमक उठा
मूर्ति बन खड़ा रहा
अणु-अणु की लय को
तन मे उँड़ेल दिया।
गोते लगाये मदिराक्षी के नयनो में
खोल देखी ओठ की गाँठ।
अपनाया बारबार परिमलो को
छीन लिया परत-परत सुस्वरो को
छान डाला तन की चिकनाहट को।
कोमल उँगलियो की पोरो से

मन एक रोदसी
गाजो के चरण चलते हैं
बिजलियो के दाग लगते हैं
चाँद के ढाँचे से खीची हुई चाँदनियाँ
तार बन फैलती रहती हैं।
सूर्य-नेत्र की भट्टी के अंगारे

कच्चे कोयले के टुकड़े बन टूट पड़ते रहते हैं।
रोदसी पर सफेदी पोत दें—
तो उजाला
रोदसी पर कालिख मल दें—
तो अँधियारा ।
मन ही घुँघुरू बाँध ले
तो परदा उठता है
मन को जम्हाइयाँ घेर लें
तो परदा गिरता है ।
झूम जाना चाहता है वह—
(तव) बादल ही बन जाते झूले।
गुंजरित होना चाहता है वह—
(तब) गरजन ही बन जाती मृदग।

मन एक तरुमूल
खीच लेता है
अनदीख परतो का जीवसार ।
खिल खिलकर हँसता है वह
कोंपले खिलती पंखुड़ियाँ बनती हैं।
कुढ़ कुढ़ कर रोता है वह
पत्ते झर-झर गिरने वाली ओस की बूँदें बनती हैं।
सिर को भून देने वाली दहकती धूप मे
छायाओ को बरसाता है।
अपने को खडित करने वाली
कुल्हाड़ी का ही
आधार बन जाता है।
स्वयं ज़मीन मे धँसा रहता है
(पर) संतान को आसमान मे उछाल देता है।
काल उसकी आँखो मे धूल ही क्यो न झोंक दे
(तब भी) अचल रह जाता है।
कभी भी आलवाल को न छोड़ने वाले मन की जड़ो को

कभी-कभी आशा कुरेद देती है
हवा मे हाथ हिलाकर खेलने की;
किसलय-रूमालों को फहरा कर
पथिकों से बतियाने की ।
जड़ उखड़ कर बाहर निकले
(तो) वृक्ष ढह गिर जाएगा ।
आशाएं धूमिल बन जायें
(तो) अंतरंग धंस जाएगा ।

मन एक महा सागर
अपनी बनाई वेला को
स्वयं ही निगल जाना चाहता है ।
अपनी सहजन्मा धरती को
स्वयं ही पी जाना चाहता है ।
गरजता-दौडता आता
मुँह दबाकर खिसकता चला जाता ।
अपने मे अंबरो को बिछा लेता ।
स्वय आकाश पर छा जाने को
तडप-तडप कर रह जाता ।

कितनी ही नदियाँ उसमें क्यो न मिल जाएँ
कितनी ही मधुरिमाएं उसमे भर क्यों न जाएँ
रहता उसका एक ही रूप
रहता उसका एक ही स्वाद
स्वयं अनंत जल-राशि
(फिर भी) अपने अंतर की आग बुझा नही पाता ।
कितनी ही धवलिमा क्यो न बरसे
तन की कालिमा को मिटा नही पाता ।
हिमालयो पर उडने वाला मन ही
तंग घाटियो मे पैठ जाता ।

अरुणोदयों की प्रतिष्ठा करने वाला मन ही
डरपोक अंधियारों में धँस जाता।
हरीतिमा को भरपेट चरकर वह
रेत की जुगाली करता।
जलती रेत को निगलकर
तर खेतों को उगल देता।
बीज के रूप में रहते हुए
पल भर में वृक्ष बन जाता।
अंतरिक्ष-सा रहते हुए
अणु-सा सिमट जाता।
वह अगम्य
खोजता गम्य ?
वह शून्य
अवलोकता काम्य
वह काल से अतीत
पर पल भर मे छः ऋतु।
वह योग से अभिषिक्त
किंतु सुषुप्ति में उदय-किरण।
पता नही बूँद बनता कब
अशनि कब बन जाता है ?
आगे बढता कब
पोखर कब बन जाता है ?
हँसता कब
हँसता कैसे-कैसे ?
हँस पडा धवल-धवल
पाल उडाती ज्योत्स्ना-सरिताएँ।
हँस पड़ा नील-नील
नाग फण फैलाती विषम रात्रियाँ।
हँस पड़ा हरित-हरित
दरारे पडी धरती मे पल्लव-जयतियाँ।
हँस पड़ा लाल-लाल
उन्मत्त वन चीखती रुधिर-स्रवतियाँ।

राजस-मुद्रा-मग्न मन
सुलग उठी एक दिन
परिपूर्ण सत्व लब्धि के लिए
परतों से परे सत्य सिद्धि के लिए ।
चल रही वह तपस्या
क्षणों के शिखरों से कूदकर
दिनों के वनों को लाँघ कर
काल के घाटो को फाड़कर
वेलावलयों मे पैठकर
समुन्नत लक्ष्य-सागर-सगम के लिए ।
स्थित है वह तपस्या
निरंतर वर्षाघात में गुफागर्भ-सी
नितांत हिमपात में मिहिर-बिब-सी
उदग्रनिदाघताप में वटच्छाया-सी
उन्मत्त ऋतु-गतियो में अचल उदात्त-स्तर-सी,
गाँठ बाँधकर समस्त विकृतियों को
फेंकती प्रकृति की गोद में ।
बढ रही है वह तपस्या
सिर के वल्मीको को छेदती हुई
स्थिर-संकल्प को नाद-सा प्रबोधित करती हुई
नक्षत्र मंडलो को उखाड़ती हुई
अक्षीण कातिगोलो को आक्रात करती हुई
अनाहत अशरीर रूप से प्रस्थान करती हुई
अधिकार की चाट लगे प्रलोभियों के
समुन्नत आसनों को चुनौती देती हुई ।

प्रभुता भ्रात हो गई
मानो ठेकेदारी हाथ से निकल गई ।
अगम्य छिपा रखे
अमृतभाड की एँडुरी ही हिल गयी ।
पिछवाड़े मे वँधे वाहन पर

कोई दूसरा सवार हो गया हो।
उसके चारो-ओर खिली खुशियों की फुलवाड़ी
मानों धरती पर गिर गई हो।
तडप उठा अधिकार
सहस्र नेत्रों में जलन पैदा होने पर
बजाई चुटकी अधिशासन ने
चली आई पलभर मे शपालता।
सहस्र-नेत्र की जलन से परिचित वह शंपा
उतर आई पृथ्वी पर;
अशिथिल रुक्ष-तपोदीक्षा ने
जहां जटाएं बांध रखी हैं।
ठिठकी वह शपा
देखा।
जटाटवी मे चमकता एक विश्व
ऊर्ध्व-भुवनों को अधोमुख करने वाले
उग्रतप का सर्वस्व।
मुडकर देखा उस शंपा ने।
परुष-आतप ने
पूर्ण चंद्रिकाओ के पंख फैलाए
सांस खोये समीर मे
सौरभ लहरा उठे।
उस शंपा के पल्लव-चरणो में
फूल पायल बनकर
परिमल नाद बनकर
हो उठे मुखरित समस्त जीवाणु।
बद कान की गांठ
न जाने कैसे ढीली पड गई।
शीर्ष मे चढती हुई चितवन
तुरत कैसे बाहर उमड़ पडी।
शिला मे ज्वार उठा
हिम मे सभ्रम की आंच उठी
निरे मौन में

परम ललित कलनाद की तान उठी।
बिखरी उषा के नेत्र में
अंधकार ही अलक-जाल बनकर—
टूटी तपस्या की देह में
चौंध ही काम-वासनाएँ बनकर—
छिन्न हुआ सयम
पिघल गई निष्ठा
विचलित हुआ समूल
सत्व का शैल।
ढह गया प्रकाम बन
तपस्या का शिखर।

बरसों की तपस्या की जड़ों का
उन्मूलन कर लेता है मन।
तीव्र झझा के चपेटो का
प्रतिघात करता है मन।
भाप बने उस मन ने
एक दिन
आश्रय लिया तरुमूल का
तृष्णा-मूल के अन्वेषण में
दुख-हेतु के गवेषण मे।
कितनी-कितनी चाँदनी की पतरों में
सयाना हुआ वह मन।
कितने-कितने वासती पंखो से
उड़ता गया वह मन।
देखा उसने
कुतरने वाले बर्फ को नही
सुहाती धूप मे भीगने वाली बर्फ को।
देखा उसने
घुप्प अंधकार को नही
आँख की कोर से मथने वाली

कजरारी अँधियारी को ।
प्रभात के पद-चाप पर
पहलू बदलता वह ।
सुगंधित सरोवर के शरीर को
परिमल बाँटता वह ।
केलिवनों के परिरंभ मे
ढलती साँझो को पिघला देता ।
फेनिल मदिरा के अधरों मे
मदन-रुचियो को छेड देता ।
कुसुम-तल्पों की नौकाओं से
निशान्त को चुंबन भरता
तलवार हाथ में आई कि
शत-शत शीर्ष गिर जाते ।
धनु संधान हुआ कि
सहस्र वक्ष विदीर्ण हो जाते ।
अश्व की पीठ थपकाई कि
वह उमग कर छ पुरसे उछल जाता ।
रथ पर चरण रखा कि
प्रभजन पीछे रह जाता ।
स्वर साधा कि
गाधर्व गगा के सिर झूम उठते ।
कल्पना विस्फारित हुई कि
ललित कविताएँ लास्य कर उठती ।

कलहास को छोड़
आँसू न देखने वाला मन
कंगूरों को छोड़
मरघट के टीले न जानने वाला मन
पार कर सपनो के आँचल
चला नगर के बीच,
कटु सत्यो की छायाओ की खेला के पास ।

एक दृश्य—
ढीले पड़े जोड़ों को घसीटते हुए।
एक दृश्य—
बुझती साँस को उचाते हुए।
एक और दृश्य—
पथराई आँखों वाले काठ को ढोते हुए।

खड़ी हो गई अपनी छाया आरसी-सी।
लगा अपना रूप
मिट्टी ओढ़े हीरे-सा।
गाज गिरी मन पर।
जमी हुई मधु की परतें
फिसल पड़ी उसी क्षण।
छूट निकला विचार बाण-सा
फैल गई अन्तश्चेतना अनल-सी
है जीवन का अर्थ दुख ?
है सुख का अर्थ स्वप्न ?
रहता नही मानव इच्छा-रहित ?
होता नही प्रकाश तिमिर-रहित ?
मस्तिष्क से प्रश्न करती
ज्वालाओ के मध्य
आँखो में घूर्णित नीले अंधियारो मे;
कलेजे मे कराहते
सूखे पत्तो के मध्य,
चरण चल पडे हैं
पग-पग पर लपेटती
राग-रज्जुओ को तोड़कर
रक्त बंधनो से छूटकर।
चरण ही प्रश्न बन पूछ रहे हैं
जटाएं बांधे जगलो से
ज्ञान-पीठों से

मौन-वाटिकाओं से।
उत्तर न पाकर चरण
जम गए तरुमूल में,
सृष्टि रहस्य के शोधन मे
जीवन-लक्ष्य के साधन में।

उधर हँसी एक पायल
इधर हंसी एक शाम ।
उधर बोली एक कुसुम-शलाका
इधर बोली एक मदन-पताका।
मदस्वनो की तरगें—
कान खुले नही तरु के।
सुन्दर चितवनो की झकोरें—
नयन खुले नही तरु के।
सौरभो के कल्लोल—
स्नायु खुले नही तरु के।
प्रलोभनो के प्रकंपन—
पकड छूटी नही तरु की।
तरु मूल में स्थित मन ही
बना अपने सिर का प्रकाश-परिवेश।
जीव को घेरा कुहरा
पिघल गया उस प्रकाश मे।
काक्षा मन का मूल
गति उसकी प्रकृति।
काक्षा बढ़े तो आशा
आशा मुठराई तो लोभ।
न जाने कितनी परतें लोभ की
अथाह उसके निक्षेप।
तर्जनी की छाया मे
सिमटकर रह जाए समस्त धरा
अपनी तलवार की चमक-दमक

सूरज की रश्मि बन फैले
अपने आँगन में
धन-राशियाँ सारी
सिर झुका चाकरी करें।
अपनी मुट्ठी मे
मारण-शक्तियाँ सारी
बाँदियाँ बन जावे।
सिर फिरा लोभ
एक दिन
चल पड़ा
अहंकार-व्यामोह के केतन के फहरने पर
आक्रमण-तृषा के प्रज्वलित होने पर।
यवनाश्वो की विकट हिनहिनाहट मे
विदीर्ण होती अष्ट दिशाएँ
कूच करते फौलादी पैरो के नीचे
कुम्हलाते साँस के बिरवे।
घमडी तलवारों की पाशविक क्रीडा में
उड़-उड़ गिर-गिर पड़ते सिर।
वरसते नर-रक्त के स्पर्श से
लोहित बने सरोवर।
किस पशुता ने सीग मार ललकारा
जो यह विलय-विहार।
किस अधर्म ने छेड़ी लड़ाई
जो यह भयद सहार।
घरो को
पक कर झुकी बालियो को
आग की बाढ मे
डुबो दिया क्यो ?
प्राणो को
प्राणो से अधिक मान-मर्यादाओ को
राक्षसी नखो से
नोच डाला क्यो ?

विजेता बन अकड़ दिखाने के लिए
विश्व को भस्म करना होगा ?
धरा-लोभ को तृप्त करने के लिए
नर-रुधिर ही चाहिए क्या ?
सहस्र उपवनो को खडित करता हाथ
खिला सकेगा एक फूल ?
मारण-हुङ्कारो की चाट लगी रसना
लालन कर सकेगी इक शिशु का ?
अपनी निगाह ही शासन-सूक्त बन
अपनी चुटकी ही भेरी-ध्वनि बन
रखा हर चरण अनगड़ा विजयस्तंभ बन
(इस तरह) आगे बढ़ता गया वह लोभ
सागरो को लपेटता हुआ।
मुट्ठी उठाकर वह लोभ
समस्त विश्व को समेटता हुआ।
क्या है उस बद मुट्ठी मे
सिमटा हुआ है जगत का जातक ?
क्या है उस विश्रान्त मूर्ति में ?
विश्व विजेता की मुहर ?
प्रश्नो-से कौंधते
बेचारे उन नयनो को पता नही—
बंद उस मुट्ठी ने
अंतिम साँस छोड़ दी
झंडा टूटकर
निरा खूंट रह गया।
विज्ञान की दृष्टि के प्रसरित होते ही
खुल पड़ी उस मुट्ठी में
जम्हाई ली
दैन्य ने,
अहंकार की समाधि बने शून्य ने।

वह लोभ
कुछ समय तक
लौटकर शून्य में
पैठ गया फिर पर-राज्य-तृष्णा में
(कि) हर काहिल अपने शौर्य की घोषणा करे
हर केतन अपने नाम का निकेतन बने
हर मुकुट अपने पैर के नाखून मे प्रतिबिंबित हो।
हर हृदय
अपनी नगी तलवार के सामने सिर झुका दे।
तोड़ दिया उसने अपनी आत्मीयता को
नोच डाला प्यार-प्रेम को।
दूध पिलाकर पाला क्रूरता को
नव-रुधिर से अभिषिक्त किया परुषता को।
उसकी जैत्रयात्रा मे
सर्वत्र लाशो के अबार ही अबार
हिंसा के उल्बण में झुलसे
लोथड़ो के टीले ही टीले।
रणोन्माद से प्रमत्त करवाल
अनबुझी हनत तृष्णा का कठ
पसारते फौलादी जिह्वा को
उगलते उग्रता को
हवा में कराहते गर्भशोक को
कुचलते हुए अट्टहासो के साथ
चल रहे हैं उच्छृंखल बनकर
बगूला बने श्मशान धूम-सा।
निकल भाग रहे हैं सब गाँव
पानी उतर गया नगरो का
एक झुपड़िया के सिवा
एक बूढ़े जोड़े के सिवा।

"आँगन मे खड़ा अधिनेता हूँ

तीन दिशाओं का विजेता हूँ ।
खडे क्यों नही रहते सिर झुका कर ?
पूजते क्यो नही हृदय समर्पित कर ?"
"दुरात्माओ को नही
नरोत्तमो को ही हमारे नमन
काठिन्य के आगे नही
कारुण्य के आगे झुकते हमारे माथे ।"
कहा पुरुष-स्वर ने
पल्लवित करते परम-शान्ति को ।
गरज उठा नग्न खड्ग
उदग्र मद के प्रज्वलित होने पर ।
ढह गया वह शान्त स्वर
उमड़ बह गया वह अनाथ कंठ ।
"यह तेरी अंतिम विजय
अब राज कर ले मरघट पर ।
दुर्दम तेरा विभव
अब सूंघ ले विषैले पवन ।
लाखो प्राणो को बुझा देने वाली तलवार
दीपित कर सकती है क्या एक भी साँस को ?
पृथ्वीतल को कंपा देने वाली शक्ति
जीत सकती है क्या एक भी हृदय को ?
सुनेगा अपना कीर्तिगान ?
सियारो-गीदड़ो के मुख,
सड़ी लाशो को नोच खाने वाली
चीलें मँडराती हो जहाँ !
छँट गया दर्प
छूट गया खड्ग ।
ध्वस्त हुआ नींव के साथ
स्वनिर्मित अहंकार-दुर्ग ।
क्या पाया मैंने !
नर-रुधिर से रगा अंधकार ।
क्या उजाला बनेगा यह अंधकार ?

क्या विजय बनेगी यह हिंसा ?
क्या मन को जगाएगा
मस्तो के घूंट पिलाने वाला यह लोभ ?
गलो को काटना नही
दिलो को जोड़ना है जीत ।
विनाश का हुलसना नही
विवेक का बढ़ना है जीत ।
समर सुलगाता है भीति
क्षमा बरसाती है प्रीति
अनुराग का हो शासन
है यही सच्ची राजनीति ।"
समर का निरसन करने वाला सम्राट
शाति-शिखर का प्रथम सोपान ।
प्रशासन की व्याख्या
परम धर्म का प्रस्थान ।
अभिमत मान प्रजा-हित को ही
अनुसरण कर दयागुण का ही
सीमाएं पार की उस धर्मपथ ने
चैन की बसी बजाई उस मनोरथ ने ।

अरुणोदय शात नही रहता
किरणों को पसारे बिना ।
वसतोदय शात नही रहता
परिमलो को बहाए बिना ।
बहता जल शात नही रहता
तलात तक पहुँचने तक ।
विद्रोही मन शात नही रहता
प्रश्न-सधान किए बिना ।
कई-कई प्रश्नो का
रीढ़ की हड्डी-सा प्रश्न
अज्ञता को, मद मग्नता को

दर्पण में दरसाता प्रश्न।
बैठा है कारागार मे
पर्वत-सा
चलती उसांसो के बीच
अचल हृदय-सा।
प्रश्न के हाथ का विषपात्र
कहने लगा करुणा से
प्राणहरण गुण को निगलते हुए
परमोज्ज्वल सत्य को लगे ग्रहण से
परितप्त होते हुए।
"जानते हो अपना अपराध ?
खोल दिया न ज्ञान का द्वार।
बताऊँ क्या है तुम्हारा स्वभाव ?
फहरा दिया न सत्य का ध्वज।
निरस्त किया क्यो
पीढियो से प्रस्थापित देव गणों को ?
भड़काया क्यो
धुएं की परतो मे लिपटे युवाग्निकणो को ?
उगा है क्या तुम्हारे ही माथे पर न्याय ?
अकुरित क्या तुम्हारे ही मूल मे धर्म ?
खुले-आम क्यो चुनौती दी
पथराई विश्रुत विद्वत्ता को ?
क्यो उखाड़ फेंका
बद्ध मूल अहकार-मद को ?
तर्क वल से क्यो बतलाया आत्मतत्व को
(कि) शील ही ज्ञान है
सौंदर्य ही सत्य है ?
क्यो झकझोर दिया
चौखट मे बंधे समाज-चित्र को ?

यह नही गिरा विषपात्र की

यह थी वाचा अधिकार की ।
कान नही दे रहा कारागार
किंतु सुन रहा निष्कंप विवेक-दीप ।
प्रश्न को बाँध दें
तो उदित होंगे प्रवचन ।
पवन को बांध दें
तो उमड़ेंगे प्रभंजन ।
"मैं केवल यह जानता हूँ
कि मैं कुछ नही जानता ।
रोपे बिना बीज
होता नही अंकुरित वृक्ष
जानने पर ही सत्-असत् को
होता नही मन बुराई के वश ।
कीचड़ का भान हो जाए
तभी पड़ते पैर सूखी भूमि पर ।
जोते हुए मन मे ही
प्रस्फुटित होगी जिज्ञासा ।
साँझ मे कभी
दीखती नही ऊषा ।
आत्माहुति मे ही सत्य
प्रतिष्ठित होता अमृत-सा ।
स्वयं जलकर ही दीप
चारो ओर फैलाता प्रकाश ।
विचारो के अरुणोदय को
रोक नही पाते कोई भी अधियारे ।
उभर छिटकने वाली आत्मा की किरणो को
बांध नही सकती कोई भी सांकलें ।"
विकल मन विष चषक का
छलक उठा गरम-आंसू-सा ।
जोड़ते हुए टूटते स्वर को
बढ़ाते हुए रुकती साँस को
"साँच को मौत ?

न्याय का नाश ?
नीति का खनन ?
सयम का दहन ?"
देह का कुछ भी हो
आत्मा का नाश होता नही ।
आँख से ओझल भले ही हो
आभा का नाश होता नही ।
प्रश्न का मरण नही
ज्ञान-तृष्णा की सीमा नही ।
सृष्टि का मूल है ज्ञान बीज
विश्वभरा-भ्रमण का मूल है
शाश्वत-चैतन्य-तेज ।
सिकुड़े पडे हों पक्षी के पख
खुर्राटे भरते हो पशुओ के खुर
गूंगी बन गई हो वल्मीको को फूत्कार
ऊँघते हो वृक्ष जटाएँ फैलाकर
ज्ञान कभी नही सोता है ।
तेज कभी मद नही पड़ता है ।
इला गर्भ ने
खोद लिया स्वय को
करोड़ो परतो मे ।
इतिहास ने
उलट लिया स्वयं को
लाखों पन्नो मे ।
खुदी सकल परतो मे
खुले सकल पृष्ठो मे
नित्य होने वाली सूर्य हत्याएँ कितनी ?
ज्ञान को निरंतर दी गई सज़ाएँ कितनी ?
पत्थर फेंकने वाली तिमिर की भीडो के बीच
राक्षसत्व मे पले फौलादी कौओ के बीच
प्रशात बन बोली वे किरणें ।
पाप-पुण्य का निर्णय करे कौन ?

है क्या कोई मस्तिष्क पार्यचितन से परे ?
है क्या कोई मन पर-प्रवंचना से परे ?
आत्मशोध है कसौटी शील की
आर्द्रवेदना है रेती हृदय की ।
तिमिर-सदृश छा जाए यदि
अनिवार्य है मूलोच्छेदन ।
प्रभात-सम आँख खुले यदि
प्रसरित होगा जीवनाद ।
भड़क उठता है अंधकार
"अंधकार" कह पुकारने पर,
गरज उठता है अज्ञान
"अज्ञान" कह टोकने पर,

सहस्र किरण-मुखो से
सत्य का प्रबोध करने वाली कान्ति को
बाँधकर पश्चिम के काष्ठ से
तीखे तिमिरो की कीलें ठोककर
नील-नील हँस उठा अज्ञान
उमड़ते मद से पागल बनकर ।
तपड नही उठी काति
आक्रदित नही हुई काति ।
बरसाई खून की बूँदें
करुणा के रूपातर-सी
सिर पर काँटो के ताज से
तन मे धँसी कीलों से
देखा उस कांति ने
सहनशीलता के अवतार-सी ।
सोखी नही गई वह काति
मिट्टी की परतो मे ।
गूँगा नही बना वह स्वर
अंधकार के कोलाहल में

हुआ उसका पुनरुत्थान
फूटते अरुणोदय के आलबाल में।
परसा उस वाणी ने
आर्त हृदय को अभय-हस्त बनाकर।
बुझाया उस वाणी ने
दावानल-से द्वेष को
अमृत-वर्षा बनकर।
वह बन गई वितान-सी।
वर्ण-अहंकार की लू के मध्य
वह स्थित हुई मंदिर-सी
अज्ञान-तिमिर की हुँकृतियों के मध्य।
बीज को मिट्टी मे फेंक दें
तो वह वृक्ष बन फूटता है।
एक मुँह को दबाएँ
तो वह लाख स्वरों मे गूँजता है।
वह है प्रचंड मौन-घोष
आर्द्र हृदय उसका क्षेत्र।
वह बढती जाती निरंतर
आत्मस्थैर्य उसका सूत्र।
तिमिरो का लेप किए गगन में
वह चमकती है तारिका-सी।
जमे रेगिस्तान के टीलों मे
उगती है वह घास के अंकुर-सी।
गहन-विपिनो की घनी झाड़ियो मे
डोलती है वह चरणचिह्न-सी।
शोर मचाती दादो के शोलो में
रहती है वह आश्रम-वाटिका-सी।
भूले-भटके शिशु के लिए
माँ की गोद-सी वह।
लू उगलने वाले मुख के लिए
दुग्ध-वर्षा-सी वह।
वह ज्योति

विश्व-इतिहास की
अभिनव-भूमिका ।
वह चेतना
नव्य मानवता की
अखंड-दीपिका ।

चार

न जाने कितने प्रस्थान मानव के ?
न जाने कितने परिभ्रमण मानव के ?
एक पल फेन उगलती दौड़
एक पल अविचल पग।
वह कौन ?
किस धातुगर्भ से उगा वृक्ष ?
कैसे सिमट गई
इतने-से अंकुर मे इतनी बड़ी शाखाएं ?
कैसे मिल-जुल गई
इतने से बीज में
इतनी जीवरेखाएँ ?
तरु-सा बढा मानव
परख लेता है अपने-आपको।
घेर लेती हैं हरित स्मृतियाँ
अंकुर से शाखाओं तक।
मानकर माँ की गोद को ही अनन्त विश्व
पाकर स्तन्य में ही समस्त माधुर्य
कीचड़ को मीजकर, गालो से पोत कर,
गगन के चाँद को दर्पण में उतार कर,
काठ के घोड़े पर करोड योजन घूमकर,
तिनके लेकर हाथ में, तलवार मांज कर,
बाल्य-कुल्याओं मे तैरकर मानव ने
बड़बड़ाया अपने आप चमक कर।

सारी छवियों को नारी रूप देकर,
आकांक्षित स्वप्नों को आकृतियाँ देकर,
स्पर्शित पंखुड़ियों को तरुणी के अधर मानकर,
बहती पवन-तरगों को सुरभित श्वास मानकर,
गतिशील काल को परिरंभ मे भर कर,
तन्मय होते प्रतिक्षण को सुरानुभूति-सा निहित कर,
यौवन-गगनो का स्पर्श कर मानव
हँस पड़ा अपने आप उछलकर।

स्वनिर्मित ज्योत्स्ना-नीड़ मे घर बमाकर,
पाली-पोसी ममताओ की सीमाओ को छूकर,
काम्य सपत्तियों की पालकियो पर विचार कर,
मन चाहे अनुभवों को गले तक पान कर,
अपने इशारो के आदेश बनने पर, मूँछो पर ताव देकर,
अपने फेंके पासे के सफल होने पर, चिकने रजत-केशो
के हिलने पर,
बुढापे को पहने मानव
बुदबुदाता रहा मन को टटोल कर।

कहाँ तक यह गमन ?
इस चरण के बढते रहने तक।
कब तक बढेगा यह चरण ?
सामने घाटी के आने तक।
क्या कहती है वह घाटी ?
खीच लेती है अगाधों तक।
आगे क्या होगा ?
यह है प्रश्न के रूप में शेष-प्रश्न।
चमकाया कितना
इस सुनहले पिजड़े को ?
चुगाए कितने मोती

इस प्राण-विहग को ?
यह ढह जाएगा घाटी में ?
उड़ जाएगा शून्य में ?
क्या शून्य फिर जन्म लेगा
दूसरे जन्म तक लता-सा फैलकर ?
मृति की परिष्कृति शून्य है ?
शून्य की आविष्कृति जनन है ?
भर जाए कितनी ही नदियों का जल
कोई विकार नही सागर में ।
धरे चरण कही भी
मलिनता नही लगती सूर्य-किरण को ।
पिंजड़े की वासनाएँ
पंछी को लगती क्यों नही ?
आकृति के विचार
आत्मा को क्यों लगते नही ?
क्या अदृष्ट नित्य है ?
क्या दृष्ट मर्त्य है ?
किसकी रची सृष्टि यह ?
अंत में मृत्यु ही सत्य है ?
मरण का नेपथ्य है
अविरत जीवन यात्रा ?
पत्तो का झड़ना यदि अनिवार्य
तो फिर अंकुर-दशा क्यो ?
मरण का आना यदि अनिवार्य
तो फिर शरीर-धारण क्यो ?
छिद्रो वाले घडे में
पानी भरना क्यो ?
जीर्ण बन जाने वाले नीड मे
जीव का छिपना क्यो ?
किसी भी तलवार से न कटने वाली को
किसी भी आग से न जलने वाली को
फूंकने पर उड़ जाने वाली राख की राशि मे

सिमट-सिमट कर रहना क्यों ?
हो सकती है जनन के बिना स्थिति ?
हो सकती है गमन के बिना गति ?
पंचभूतों के प्रस्तारों से परे
प्रकृति और कुछ होती है ?
जो रूप रहित है
उसके अलग-अलग आवरण क्यो ?
जो है सब जगह व्याप्त
उसके अलग-अलग खाने-ठिकाने क्यों ?
कुछ आग जैसी भीतर है तो
लग सकती है शरीर को दीमक ?
कुछ अमृत-तत्त्व है ऊपर तो
होगी क्या मृत्यु-भीति धरती को ?

देह है एक लट्टू
इसको घुमाती है साँस
कब रुक जाएगा वह
कह सकता है कौन ?
प्राणी देह को तो हिला नही सकता
पर रट लगाए क्यों "सोह" की ?
जो देख नही सकता परदे के उस पार
वह क्यों करे प्रवचन परतत्त्व का ?
अज्ञता को छिपाने वाले
आच्छादन हैं क्या ये सब
अशक्ता को दुराने वाले
अभिनय हैं क्या ये सब ?
बुने मकड़ी के जाले
क्या बनेंगे प्रासाद ?
लहराती मृगमरीचिकाएँ
क्या बनेंगी जलराशियाँ ?
ऊभ चूभ बनी देह-प्रीति को

अबूझ प्राण-भीति को
आश्रय देने वाली दिव्य-कल्पना
है अतिलोक शक्तियों की आराधना।

मानों चाबुक की कोर छलक उठी हो
मानों दर्पित नाग फुफकार उठे हो।
चौंक पडा मानव
मानों कल्पना का स्तंभ टूट गिरा हो।
बिछी चटाई पर स्थित नही वह
घूमते गेंद पर दौड़ रहा है वह।
किस अदृश्य हस्त का फेंका गेंद है वह?
कभी का विमुक्त मिहिर-खंड है वह।
किसी भी मूल के बिना
कैसे अवस्थित ग्रहताराएँ?
अदृष्ट अंतस्सूत्रो से
बँधी हुई हैं।
परत-परत खोदती
बढती गई जिज्ञासा।
ले कितने ही सत्यो का आस्वाद
अघाती नही पिपासा।

उड़ते पक्षियो को देख-देख
बरसो से आहे भरने वाला
उड़ता जा रहा है गगन तल पर
किसी भी पंख के लिए अगम्य-स्थान पर।
नदिया पार करने के लिए
बार-बार भीत होने वाला
सागर-तरंगो के सदनो को
ढाल रहा शयन-कक्षो के रूप में।
पवन के वेग को हरकर

हिलते चक्रों में भरकर
पाँव पर पाँव धरे
कर रहा है सुखद यात्राएं।
कही पल्लवित ध्वनि को
बहाकर कितने तारों में
श्रवणों के वितानो में
भर रहा है सौरभ।
परदे के पीछे से
पुत्तलियों को नचाकर
ताल-लय भरने वाला
बोलने वाली पुत्तलियों को
नाच रहा है परदे पर धूप-छाँव-सा।
दूरी को दृश्य में परिवर्तित कर
दृश्य को नाद से जोड़कर
नेत्र गृह में पहुँचाकर
बना रहा है बसेरा।
क्षण मे चमक बुझ जाने वाली
बिजलियो को
अपने आँगन में रोपकर
चैतन्यशक्ति का रूप देकर
करवा रहा है चाकरो।
आँखो की पहुँच से परे
शरीर को परतो की गहराइयो को
किरणो के चित्र-नयनों से
निहार रहा है।
यत्र को मति-सा ढालकर
मानव के बदले खड़ा कर
विचारो को ही
दे रहा है नितनूतन आकृतियां
जमीन पर रहते हुए
आँखों को अंतरिक्ष मे भेजकर
नक्षत्रो की नाड़ि-गतियो को

परख रहा है।
अदृष्ट जीवाणुओं के
असली रूप को उघाड़कर
दृष्टियों को
प्रदान कर रहा है कल्पनातीत सूक्ष्मता।
मृत्यु और व्याधि का सम्बन्ध-विच्छेद कर
उनके मध्य
बढ़ा रहा है अतर को।
पवन-नीड़ में, स्वर-पेटी मे
कराहती शब्द-निधियो को
प्रत्यक्ष-निक्षेपो के रूप में
कर ले रहा है सुरक्षित।
उन्मत्त दौड़ लगाने वाली नदियों को
पालतू बना, आँगन मे बाँध
सस्य-शिशुओ को दूध देने वाली
गायो का रूप दे रहा है।
अगोचर पड़े हुए,
अणु-गर्भ में जड़े हुए,
विश्व तत्त्व को
मुट्ठी मे बाँध
घुड़-दौड़ खेल रहा है।

मानव के मस्तक मे अट्टहास
गरज उठा महोदधि-सा।
दो गज का शरीर
गगन चूमकर
चमक उठा
अहंकृति-सा।
चरण है चिपका मिट्टी से
माथा सोग लड़ा रहा गगन से।
पंचभूत है होड़ लगा कर

पड़े हुए द्वार पर।
गगन तक फैले सिर मे
ग्रह-तारको के वृन्द गान।
युगो-युगो के शून्य फलको पर
उड़-उड़ आते स्मृति वलय।
ऐक परिचित कठ हुङ्करित शासन-सा
धिक्कारता अन्य स्वर
टकराता महोद्रेक-सा।
वे ही बातें, साक्षात् वे ही बातें
किसी समय की अपनी तीखी बाते।
"तब तो चले जाओ
माटी के मानुस, उसी मिट्टी मे।"
"ठीक है, जाकर उफनाता हूँ उसी माटी को
अबर की ओर।"
"यहाँ तक आई तुम्हारी अहंकृति ?"
"वहा प्रारंभ होती मानव सस्कृति।"

अब वह हवा का बुलबुला नही
किसी धागे के हाथ उड़ने वाला
चाम का पतंग नही।
उसकी आँख बोले तो उदय
मन मुँद जाए तो अस्त।
स्वयं है चैतन्य का वारिधि
स्वयं ही उसका वारिधि।
उसका ज्ञान है सृष्टि समस्या-पूर्ति।
उसका ध्यान है मूल रहस्य की स्फूर्ति।
उसे मालूम
अपने पंचरंगी पालतू तोते पर
झपट्टा मारने के लिए
दिन-ब-दिन चोंच पैना करने वाले
छ गीध ताक में बैठे हैं।

उसे मालूम
पंच-पखुडियों के जिस फूल को सूंघ रहा है
उसे उड़ा ले जाने के लिए
क्षण-क्षण काल-प्रभजन
उल्लोलित हो रहा है।
उसे मालूम
कांता की रक्ति
काचन की आसक्ति
सतान की अनुरक्ति के
मिल-जुल रचे अविराम-नाटक मे
अपनी नायक-भूमिका के लिए
अंत मे बचेंगे केवल भँवर ही
अणु मे अव्यक्त मूर्ति को
अजोड रूप मे देखता मानव
ग्रहो मे सुप्त पड़ा चैतन्य
पवन का अस्तित्व तौलता मानव।
क्या देखा है उसने अपना रूप ?
पहचाना है अपने मन का संतुलन ?
कोई पाद अपने पहलू को छू जाए
कितना विष उगलता है वह ?
कोई हाथ अपने बाल को लग जाए
कितना धुंआ उगलता है वह ?
अपने खेत की मेड़ तनिक भी घट जाए
तो न जाने कितने सिर फूट जाते हैं।
अपने खेल का दाँव टुक बिखर जाए
तो राग बधन टूट जाते हैं।
ऊषा के खींचे चित्र
गोधूलि मे धुंधले बनते जा रहे हैं।
अपने बनाए स्वप्नशिल्प
बीच-बाजार भीड़ मे टुकड़े बन रहे हैं।
मौन में साधे स्वर-सपुट
महार्णव-घोष मे डूब रहे हैं।

यात्रा में पुकारते मील के पत्थर
चरणो के लिए प्रश्न-चिह्न बन रहे है ।

अपने विजित शिखर ही हैं वे
आज कराह रहे हैं घाटियो-से ।
अपने क्रात अंबर ही हैं वे
आज सिकुडे गए है तंग कमरो जैसे ।
अपनी ही ललकारें हैं वे
सुनाई पड रही हैं चहचहाहट जैसी ।
अपनी ही उठाई मशालें हैं वे
पड़ी हुई बेजान जुगनुओ-सी ।
कंठ को चूमने वाली
फूलों की मालाएँ
आज डँस क्यों रही हैं ?
यश के इर्द-गिर्द रेंगने वाले स्तुतिपाठ
जोड़ो को क्यो कुरेद रहे हैं ?
अपने आँगन में पली कुतिया
क्यों भूंकती लपकती आ रही है ?
पिछवाड़े मे पली चमेली
भद्दे फूल क्यों उगल रही है ?
लेटे थे सिमटकर जिस कामल सेज पर
वह उछाले क्यों दे रही है ?
जमाया था जिन अक्षरो को पंक्तियों को
वे नुक्ता-चीनी क्यो कर रही हैं ?
यह तो अपना बैठा आसन
किसी और को क्यो ढो रहा है ?
यह तो अपना सिखाया पाठ
किसी और की क्यो रट लगा रहा है ?
कहाँ गई अपने हाथ की छड़ी ?
किस जादूगर ने उसे अपना लिया ?
कहाँ गया अपना आज्ञापत्र ?

किस छोकरे ने उसे पतंग बना लिया ?

"मेरी छाया मेरा ही मजाक उड़ाती,
मेरी लाश मेरी हा ओर चली आती ।
कंठ में साधा मेरा स्वर
उल्लू बन सामने आ रहा ।
यह तो मेरा बनाया दुर्ग
यहाँ झोंपड़ियाँ कैसे उभर आ रही हैं ?
प्राकार कहाँ ?
भाग गया क्या खाली हाथ ?
कहाँ मर गया वह बाड़ा ?
हाथ मिलाया क्या चिता की ज्वालाओं से ?
जहाँ-जहाँ चरण धरता हूँ ।
कीचड़ ही कीचड़ उभर आती है ।
जब-जब साँस लेता हूँ
चिराध लग रही है ।
क्या करूँ इस चाँदी की थाली को ?
न जाने कैसे-कैसे कीड़े बिलबिला रहे हैं ।
कैसे धरूँ इस मधु चषक को ?
न जाने कैसी-कैसी विकट-स्मृतियाँ छलक रही हैं ?

मस्तिष्क मे फूटते बिच्छुओ के पेट ।
पगलाकर लबडब करता दिल ।
उंगलियो मे फंसे सिर के बाल ।
पैरो को खीचता दलदल ।
सिर को वेधने वाली चीख
लहर-लहर-सी ।
लहरों के फेन पर
छपते अक्षर
अव्यक्त से प्रश्न करती आकृतियो-से ।

शायद दृष्टि में न आने वाली कोई सृष्टि है ?
शायद सृष्टि में न आने वाली कोई दृष्टि है ?
गिरा की पकड़ में न आने वाला कोई अर्थ है ?
मन की जकड़ में न आने वाला कोई भाव है ?
व्यक्ति को घेर लेने वाली कोई शक्ति है ?
शून्य का चित्रण करने वाला कोई चैतन्य है ?
लगता है, है—
परवश बन झूम उठा सिर।
लगता है, कुछ है—
स्पन्दित हो गुंजित हो उठा शरीर।

अधमुँदी आँखों में आविर्भूत हो रहे है
मुस्कान जड़े मुख
वरदान बरसाते नेत्र
भय को भीत करते कर
मुक्ति के मूर्तिमान चरण।
शिलाएँ गढ़ी जा रही है
भाँति-भाँति की आकृतियो में।
काठ सज रहे है
नई-नई आकृतियो मे।
दिशाएँ मनौतियाँ पाती
दीप विनतियों को पाते
अर्चना पाती अस्थियाँ
आलय बनाते केश खंड।
आँखों से लगाया मानव ने अपनी रौंदी मिट्टी को
सिर पर छिड़क लिया उसने
अपने चरण तल के पानी को।
हाथ जोड़ नमन किया
चकमक-पत्थर से छिटकी आग को।
जीवन की गाँठ बाँध ली
तारा-चंद्र की गतियों से।

गले को सजा लिया
अभय चिह्नों से ।
माथे पर पोत लिया
आत्मीय विश्वासों को ।
ऊपर की सीढी पर जाना हो
वैरी का सिर कुचल जाना हो
बँधे रहस्यो की गठरियो को
खुलने न देना हो
पानी बरसना हो
बाढ़ निकल जाना हो
फसल पक जाना हो
गोद भर जाना हो
उस मन की एक ही शरण
अतिलोक शक्तियों का स्मरण ।

स्मरण मात्र से न रुकने वाला मन
चक्कर काटता रहा भाँति-भाँति से
दीखे हर हाथ को
अपने विश्वासों की गोलियाँ बाँटते ।
पता नही क्या है उन गोलियो मे
पता नही क्या है उन बोलियो मे
लहराती ज्वलित-मतियाँ
रुककर सुन रही हैं ।
कंठीरवो के सिरो में
दिखावे के बैल खेल रहे है ।
ज्वालाएँ उगलने वाले कंठो मे
हिमखंड जम रहे है ।
आल वालो में जहाँ प्रश्न रोपे थे
प्रार्थनाएँ अंकुरित हो रही है ।
विचारो के बिखेरे बीजो को
अर्चनाएँ दुरा रही हैं ।

प्रकाश वही जिसे अपनी आँख ने देखा हो
क़दम वही जहाँ अपने चरण पड़े हों।
सच्चा पात्र वही जिसे उसने धारण किया हो
परमात्मा वही जिसे उसने देखा हो।
यदि यही सच है तो इतने विभाग क्यो ?
अखंड-आत्मा मे इतनी परते क्यों ?
असली रूप एक है तो इतने सघर्ष क्यो ?
मूल तत्त्व एक है तो इतने मुखौटे क्यो ?
परमार्थ का प्रवचन करने वाला लक्ष्य
क्या नरबलि के रास्ते पर लगेगा ?
मानवता का अनुसरण करने वाला ध्येय
क्या मानवों मे भेद डालेगा ?
प्रेम की फसल पकाने के लिए
द्वेष को जीतना होगा ?
समता-ज्योति के जलने के लिए
अहंकार की आग उगलनी होगी ?
वह तो स्वच्छ जल नही
केवल कीचड़ की बाढ़।
यह मनोनाद नही
उन्माद का शोर।
यह है क्या आदर्शों का पारायण ?
यह है क्या असमर्थों का पलायन ?
विश्वासो की कितनी ही निसैनियाँ क्यो न चढ़ें
वही खड़ा है मानव।
विमुक्ति के कितने ही पथ क्यों न चले हों
वही उलझा है मानव।
पहाड़ो-सी समस्याएँ सामने आएं
मन को मनौती बनाएँ तो कैसे ?
उल्काओ-सी आफतें सिर पर टूट पड़ें
चौंककर हाथ डाल दें तो कैसे ?
जमीन को जोतने वाला
भला, धूल से कैसे बचेगा ?

पाँच

कदम बढ रहा
कीचड़ मे छिपे बैठे काँटो को रौंदते हुए।
कदम बढ़ रहा
रोड़े बने हिमखण्डो का वमन कराते।
दीख रहे चरण-नयन को
मानुष चाम ओढ़े भेड़िये।
सुनाई दे रहे चरण श्रवण को
टूटते रहने पर भी
चीख न सकनेवाले हिरनों के मुख
चरण के हृदय मे उमड़ आए
सागर को डुबोने वाले आँसू
चरण के कंठ मे गर्जना
गाजो को निगल जानेवाला शोर।
"हाय रे मानव !
अहकार के रंगीन ऐनक
अतरग पर लगाए है कालिख
गोरे काले के नापमान से
आँक रहा मूल्य ?
सफेद चमेली और नीले कमल की
बांध रहा सीमाएँ ?
गाय के रंग से क्या मतलब
देती तो सफेद दूध ही।
तन के रग से क्या मतलब

खून तो होता लाल ही
गुफा से छूट निकला
मंदिर मे घुस पड़ा।
ध्यान में ज्वलित हुआ
ज्ञान-सा वर्षित हुआ।
पंच-रूपी प्रकृति को एककर देखा।
पंच-पदो से बढती श्रुति का
आलाप किया आत्मकृति-सा।
क्यो घुस आई तंग गली
इस विशाल राजपथ मे ?
कैसे आई तपती मरुभूमि
इस श्यामल शाद्वल मे ?
गरजते चरण को देख
परिहास किया वर्णाहंकार ने।
इस प्रगति को निगलने को
फैल गया श्वेत अंधकार।

क्यों न पोत ले कितने ही रंग
कभी विजय हुई अंधकार की ?
कितने ही निषेध लागू क्यो न करें
उदित होने से रुकता है किरणसमूह ?
चरण के क्रुद्ध हो चलने पड़ने पर
उमड़ उठा कीचड़ बाढ-सी।
श्वेतवर्ण के सिर चढी मूढता
जडी जा रही सूखे तिनके-सी।
जाल मे फंसाने को क्या मछली है मानव ?
साँकलो के बाँधने को क्या पशु है मानव ?
नित क्रूस को प्रणाम करने वाले हैं मानव !
भूल गया क्या हत्या से अपरिचित सत्य को ?
कहाँ का है आसन
जिस पर विराजा है तू ?

किसका है भाषण
जिसकी रट लगा रहा है ?
साथी मानव पर सवार होकर
घोषणा करता है प्रेम-शासन की ?
चला जा रहा वह अप्रतिहत चरण
दास्य-ग्रीष्म-तम जनों का आतपत्र ।
साम्य का प्रसार करता वह चरण
स्वामित्व का प्रतिरोध करता प्रथम वचन ।

क्या रुक गया वह वचन वहीं तक ?
वह चल पड़ा स्वेच्छा की साँस-सा ।
घूर कर देखते वाड़ों का उन्मूलन करते
परिक्रमा की झंझा-लहर-सा ।
काली भुजा पर आ बैठा
श्वेत-कर कपोत-सा ।
दौर्जन्य को उखाड़कर
खड़ा रहा सौजन्य-शिखर-सा ।
लाखों हाथों के उपजा धान को
बिछते देख एक आँगन में
करोड़ों श्रम बिन्दुओं के बरसाए मूल्य को
दबकर रहते देख एक मुट्ठी में
स्वच्छ सौजन्य
निष्प्राण पड़ा रह जाएगा ?
उद्रिक्त रक्त-घोष
पावक पंख न फैलाएगा ?
देने पर ही लेने वाला हाथ
मुट्ठी उठाकर दावा न करेगा ?
गाली देने पर भी चुप रहने वाला मुख
गाज-सा चुनौती दिए बिना रहेगा ?
किसी मनीषि के सिर में
अंकुरित साम्यवेद

किसी मनस्वी की कलम में
उद्‌गमित क्रान्तिनाद
छोडकर दिशाओं की उलझनो को
मेटकर देशो की सीमाओं को
क्या पैठे बिना रहेगा
दीप्त मतियों की नसो में ?
क्या पंख न फैलाएगा
चिर पीड़ितों के स्वरों मे ?
उन नसों में ऊभ चूभ कराहो को
उन स्वरो में घिरी मूर्च्छनाओं को
अपने अंतर को गरजता सागर बनाकर,
अपने कंठ को उद्‌घोष करता यन्त्र बनाकर,
उदित होता आ रहा एक क्रान्तिनेता
मिटती जा रही है अतीत की रेखा !

वह उग्रचेतना-प्रेरित
उदग्र भूचाल।
काल-शिखर परिचालित
ज्वाला जल-प्रपात।
कंपकंपी पैदा हुई
चिरस्थापित वज्र दुर्गों को।
पसीना छूट निकला
अकड़े फौलादी कानूनों का
दिखावे के बैलो के सीगो में
तलवारो की नोकें चमक रही।
गोमाता के खुरो में
दराती की धारें चल रही।
कटती जा रही मास-पेशियाँ
फहर रही झंडियो-सी।
विदीर्ण होते कलेजे
भड़क रहे अग्निकुंडो-से।

ऊपर उठे उन हाथों में
गरदन-कटी-सांकलें।
वाली उन गलियारो में
कूच करती मुट्ठियां
कटघरे-सा रास्ता रोकने वाले
घुप्प अंधेरे की मेडों को चीरकर
उमड़-उमड़ आने वाले भोर।
आंसुओ की बूंदो मे
पसीने की छीटो मे
दहकते-धधकते
दिनकर बिंब।
अंधकार की गद्दी को
उखाड़कर,
उद्गमन करती
अरुण-किरणो को पलटनें।
छलके स्वेदबिंदुओ को ही
प्राप्त सस्य-फल।
श्रम करते शरीरो को ही
प्राप्त नित्यसुख।
कोने मे पड़ गए नंगे कोड़े
मौन पड़ गए उन्मत्त व्यसन।
हट गए पीढियो से सिर चढ़े अफीम के परदे
अबर तल से बंधी दृष्टियां
भूतल स्वर्ग को ही देख रही हैं।
भाग्य-रेखाओ को परखने वाले हाथ
वाछित भवितव्य की फसल काट रहे हैं।
वह हाथ
जिसने चक्रों को घुमाया,
शासन को संचालित किया,
वह मस्तिष्क
जिसने काव्य सृष्टि की,
विज्ञान का विस्तार किया

बाँट लिया दोनों ने एक ही मूल्य को
बढा लिया दोनों ने एक ही गौरव को।

समता को साधने वाला वह चरण
थम नही जाता कही पर।
बढता ही रहता है वह
सीमाओ को पार कर।
मौन हो निनाद-सा
मंदहास हो महास्त्र-सा
सहन हो कवच-सा
शान्ति हो प्रवचन-सा
सीधी-सादी चाल से बढ़ने वाले
उस चरण ने
गिरीद्रो के सिर झुकाए।
नीरव बन गुजरित उस चरण ने
नीरधियो का अनुवाद किया।
नमक के कंठ में
गूंज उठी आग जैसी आवाज।
तकली की कराहो मे
सुनाई दिया
समर शख-नाद।
उज्ज्वलित ?
उज्ज्वल हुई करोड़ो हृदयों में
एक ही मातृमूर्ति।
उद्गमित हुई करोड़ों कंठो मे
एक ही मातृ गीति।
सब दिशाएँ फहर रही हैं
एक ही पताका-सी।
सभी दृष्टियाँ गुथ गईं
एक हा प्रतीक-सी।
चुनौती देते हैं कलेजे बंदूको को

सामना करते हैं सिर लाठियों का ।
एड़ियाँ बह रही हैं
जेलों को डुबोती ।
गरदनें बढ़ रही हैं ।
फासी के तख्तों को घिसाती ।
कहां के हैं तरंगें ?
कितने-कितने रंगो के विहंग
उमड़ते चल रहे हैं
चलते-चलते उड़ रहे है ।
सिकुड़ी गलियों से
फैली सड़को में से ।
न जाने किन झोपड़ो ने भेजा इन्हे ?
न जाने किन मंदिरो ने मन्त्रित किया इन्हें ?
न जाने किन महलों ने समर्पित किया इन्हें ?
न जाने किन ममताओं ने आसीसा इन्हें ?

कल की मिट्टी के ढेले ही है ।
जो आज जलती चिनगारियाँ ।
कण के घास के तिनके ही हैं ।
जो आज उठते ध्वज-स्तम्भ ।
कल के मेघ कठ ही हैं ।
जो आज गरजते कंठीरव ।
कल के रुई के रेशे ही हैं ।
जो आज भिड़ती पर्वत शृंग ।
दंग रह गई—
अपनी सीमा में
दिन रात
सूर्य को बांध रखने वाली प्रभुता ।
चौंक पड़ी—
अपनी सत्ता को
हथियारो मे कूट-कूट भरने वाली प्रभुता ।

कांप उठे
चर्बी चढे हाथ
मानों डूब गए
सुविशाल साम्राज्य के तट।
एक दम उड़ गई
एक दुबली-पतली निश्वास के आगे
कितनी ही खत्तियो की बारूद।
एकदम ढह पड़े
एक अचचल विश्वास के आगे
कितनो मजिलो के बुनियाद के पत्थर।

यह है अपूर्व-उदय
आधी रात में उषा का उदय
फहर उठा तीन वर्णों के साथ
प्रतीक्षित भानु-हृदय।
नद-नदियो के अधरो पर
तरंगित विमुक्त रागिनियाँ।
गिरि-पदो मे, पुर-पथो मे
परवश उत्साह-वाहिनियाँ।
उछलते-कूदते यंत्रालय
सिर हिलाते शस्यालय
पुलकित आँगन
उमड़ते बाजार
स्वच्छन्द छन्द-सा
सत्कविता के स्पन्दन-सा
सरंभ में भीग कर
उमड़कर सतृप्ति-सा
कदम बढाता ही गया
धरती-भर उषाओ को छापते।
बंधी रसनाओ पर
क्राति भाषा का आविष्कार करते।

मरण ने मुड़कर देखा
अनत रूप से बहते इतिहास मे
अपनी मुहरें कितनी ?
अपने दिए मोड़ कितने ?
क्या वे छापें अपनी ही हैं ?
उन अगुलियों के वीच वे असंगत रेखाएँ कैसी ?
क्या वे मोड़ अपने ही हैं ?
उन कोनो मे घिरी रुधिर-छायाएँ कैसी ?
अपने पाले-पोसे कपोत कहाँ ?
छाती फुला मडरा रहे हैं गीधो के झुंड ।
अपने रापे फूलो के पौधे कहाँ ?
मस्ती चढे सिरो से
खड़े हैं काँटो के बाड़े ।

" हे मानव ! कहाँ ? तू कहाँ ?
मिटटी से आसमान तक उभर आ रहा है ?
जब मटियामेट होते
स्वनिर्मित अहंकारो के प्राकार,
आहो के खडहरों को पकड
लटक रहा है क्या ?
परमाणुओ के सिरो मे घुमकर
परखे सत्यो की परमावधि
विनूतन चैतन्य का सृजन है ?
(किवा) विश्व सृष्टि का विध्वंसन है ?
आहा ! कितनी हरी-भरी लहरा रही है
तेरी पाली-पोसी सस्कृति
सह-मानव हनन मे
सम-जीवन दहन मे ।"
वही स्वर, वही स्वर
अधिकार-सा गूंजता हुआ ।
मानव के सकल्प मूल को

बार-बार ताना देता हुआ।
मानव विचलित नही हुआ
मौन बरसाया।
वचनो से परे श्रुति मे।
मन से उद्घोष किया।

यह है नित्य प्रस्थान
ऊँच-नीच अनिवार्य।
यह है नित्य प्रयोग
ठोकरें अनिवार्य।
मरघट के टीलों के इर्द-गिर्द
बस्तियो ने घर बसाए।
जलती रेत की मरुभूमियों के इर्द-गिर्द
हरी भरी भूमियाँ
मारण धूम को
फूंक उड़ा देने वाले जीवन-पवन।
मृत्यु शासन को धिक्कारने वाले
नित्य शिशूदय।
पत्ते झड़ जाएँ तो क्या हुआ ?
कोंपलें फिर नही उग आवेंगी ?
जल सूख जाए तो क्या हुआ ?
नीले बादल के पायल नही बजेंगे ?
तरंग विचलित होती रहे
तभी जल को उद्दीपन।
रुधिर प्रसरित होता रहे
तभी नसो को उज्जीवन।
अणु से अंतरिक्ष तक
अबर से अवनीतल तक
अनुभूति से आकृति तक
अदृष्ट से अभिव्यक्ति तक
अविरल शोध यह।

फिसल कर गिरने पर भी
सीढी दर सीढ़ी
चढ़ने वाली साधना यह
झुटपुट अंधकार घेर ले
तब भी मन है कांति चक्षु।
बरफ के टोले जम जाएं।
तब भी मेधा है ज्वलन-धातु।
उस चक्षु को निगलने
उस कांति को हरने
तम के जाल फेंकने पर
मन के ढीले पड जाने पर
विचार को हथियार बना
अंतश्चेतना का सहारा ले
आगे बढती है मानव
परिवेश का अतिक्रमण कर।
दोनों किनारे को परसता
दिन रात को ढोता
अंतर के भँवरो को
पूर्ण हास मे ढालता
प्रचंड ग्रीष्म में
जलती रेत मे आश्रय लेता
मूसलाधार वर्षा में
पर्वतों को चीरता
बढ़ता जाने वाला प्रवाह
है मृत्यु रहित जीवन।
धरती पर चरण रखे हुए ही
आकाश के छोरों को खटखटाता हुआ
दो पंखो से तैरते हुए ही
सकल दिशाओ का मंथन करता हुआ
चला जाने वाला जीवन
मुडकर न देखने वाला चिरपथ।
ऋषिता का, पशुता का

सस्कृति का, दुष्कृति का
स्वछन्दता का, निर्बंधन्ता का
समार्द्रता का, रौद्रता का
पहला बीज है मन
तुला रूप है मन !
मन का आवरण मानव
मानव का आच्छादन जगत ।
यही है विश्वंभरा तत्त्व
यही है अनन्त जीवन सत्य ।

•